प्रेमचंद की कहानियों में दलित

(एम. फिल् उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध)

शोध-निर्देशक
डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल

शोधकर्त्ता
रामचन्द्र

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067
1996

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान

दिनांक : 19.07.96

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री रामचन्द्र द्वारा प्रस्तुत "प्रेमचंद की कहानियों में दलित" शीर्षक लघु शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य किसी भी विश्वविद्यालय में इससे पूर्व किसी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है ।

यह लघु शोध प्रबन्ध श्री रामचन्द्र की मौलिक कृति है ।

(प्रो॰ एस॰आर॰ किदवई)
अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067.

(डॉ॰ पुरुषोत्तम अग्रवाल)
शोध निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067.

1996

GRAM : JAYENU TEL : 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN FAX : 91-011-6865886

समर्पण

उन प्रतिरोधी शक्तियों को

जो वर्चस्व के खिलाफ़

सतत संघर्ष कर रही हैं.

*****

विषय - सूची

			पृष्ठ संख्या
अपनी बात		.....	क - ङ
पहला अध्याय	:	दलित का आशय	1 - 48
दूसरा अध्याय	:	प्रेमचंद युगीन राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियाँ	49 - 86
तीसरा अध्याय	:	प्रेमचंद की कथा-संवेदना	87 - 107
चौथा अध्याय	:	प्रेमचंद की कहानियों में दलित जीवन	108 - 138
अंततः		.....	139 - 141
संदर्भ सूची		.....	142 - 147

*****

अपनी बात

हिंदू सामाजिक व्यवस्था की अमानवीयता से निकली चीख़-पुकार मेरी अनुभूति और संवेदना को लगातार कुरेदते रहे हैं, संवेदित करते रहे हैं। दमन और शोषण से उपजी पीड़ा ने मेरे अनुभव-संसार को कई स्तरों पर झंकृत किया है। बचपन से लेकर आजतक देखा, भोगा और महसूस किया हुआ यथार्थ प्रेमचंद-साहित्य के मार्फ़त तरोताज़ा होता रहा है। संशय और आक्रोश ढेरों सवाल पैदा करते रहे हैं, जिसका हल लगातार ढूँढने की कोशिश करता रहा हूँ। छुआछूत, ऊँच-नीच और वर्चस्व के तांडव ने मुझे काफ़ी गहरे तक झकझोरा है।

सामाजिक-विषमता के ख़िलाफ़ विद्रोह करती कबीर की वाणी, आंतरिक उपनिवेशवाद की गुलामी से मुक्ति का फुले - अंबेडकर का संघर्ष तथा उस आक्रोश, विद्रोह और संघर्ष के मूल कारणों को उघाड़ता प्रेमचंद साहित्य मेरी सोच, विचार और चिंतन को एक दिशा देता है। इसी का परिणाम है प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध - "प्रेमचंद की कहानियों में दलित"।

प्रेमचंद के कथा-साहित्य में अनुभव एवं संवेदना का ऐसा रचाव है, जो किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को झकझोरे बिना नहीं रह सकता। जिस समुदाय के साहित्य और समाज के हाशिए पर फेंक दिया गया था - हिंदी कथा-साहित्य में प्रेमचंद पहले रचनाकार हैं, जो उस समुदाय के दर्द को, उसकी पीड़ा को अभिव्यक्ति देते हैं। हिंदू समाज व्यवस्था का दमन और शोषण-तन्त्र आमूल परिवर्तन की मांग करता है। क्या प्रेमचंद की

दलित-विषयक कहानियां सामाजिक-परिवर्तन की मांग करती हैं ? सामाजिक और आर्थिक शोषण से मुक्ति में प्रेमचंद कहीं रुकावट तो नहीं हो गए हैं ? इसी की पड़ताल प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध करता है ।

प्रेमचंद का युग-बोध परिवर्तन और प्रभाव का युग-बोध है । प्रेमचंद परिवर्तन को मुखर करते हैं - शुरू में, यथार्थ और आदर्श के बीच से रास्ता ढूँढ़ते हैं, लेकिन प्रेमचंद स्वयं निरंतर परिवर्तन के दौर से गुज़रते हुए दिखाई देते हैं । उनका आदर्श से धीरे-धीरे मोह भंग होता है और वे सामाजिक यथार्थ को जाति और अस्पृश्यता की सच्चाई को, धार्मिक पाखण्ड को, व्यवस्था के वीभत्स और कुत्सित रूप को कहानियों में अभिव्यक्त करते हैं । उनकी अंतिम कहानी "कफ़न" कुछ अन्तर्विरोधों के साथ शोषण के सिर्फ़ आर्थिक पहलू को ही उजागर कर पाती हैं क्यों ? प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध में यह सवाल मुखरित हुआ है ।

"दलित" शब्द का चयन मेरे लिए काफ़ी उद्वेलित करने वाला तथा चुनौती भरा रहा है । प्रेमचंद अपनी कहानियों में "दलित" शब्द का प्रयोग नहीं करते । अत: "एकेडमिक" और व्यवहारिक धरातल पर इस शब्द को लेकर वाद-विवाद का माहौल लगातार बना रहा है, जिससे इसके आशय को स्पष्ट करने की ज़रूरत महत्वपूर्ण लगी ।

पहला अध्याय "दलित का आशय" में सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक शोषण तंत्र की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला गया है । चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की सैद्धांतिक और व्यावहारिक धरातल पर पड़ताल की गई है । शूद्रों-अति शूद्रों से विकसित विभिन्न जातियों तथा इनकी पहचान के लिए विहित शब्दों का विवेचन किया गया है । "हरिजन" शब्द को ठुकराने के

क्या कारण हैं ? इसको स्पष्ट किया है । "दलित" शब्द सामाजिक अस्मिता और प्रखर आत्मबोध की परिणति है - इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है । आस्था और अनास्था को दलित संवेदना के साथ जोड़कर स्पष्ट किया गया है । 1914 में "सरस्वती" में प्रकाशित पटना के हीरा डोम की कविता "अछूत की शिकायत" के माध्यम से ढेरों सवाल उठाए गए हैं । दलित-साहित्य के अर्थ और उसकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला गया है ।

दूसरा अध्याय "प्रेमचंद युगीन राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति" में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और प्रथम विश्वयुद्ध के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रभावों पर विहंगम दृष्टि डाली गई है । प्रेमचंद युग में हो रहे सामाजिक - राजनीतिक उथल-पुथल को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश की गई है । नारी मुक्ति आंदोलन और अछूतोद्धार आंदोलन पर व्यापक नज़र डाली गई है ।

तीसरा अध्याय "प्रेमचंद की कथा-संवेदना" उनकी अनुभूति और संवेदना को सामाजिक परिवेश और युगबोध के साथ जुड़ाव को रेखांकित करता है । इसमें प्रेमचंद की कथा-दृष्टि और रचना-विधान की पड़ताल की गई है । विभिन्न विद्वानों के मतों की यथोचित समीक्षा करते हुए अपना मत स्थिर करने का प्रयास किया गया है ।

चौथा अध्याय "प्रेमचंद की कहानियों में दलित जीवन" में प्रेमचंद की कहानियों के विकास-क्रम के साथ विभिन्न स्तरों पर दलितों के जीवन की छानबीन की गई है । कई प्रश्न और शंकाएं जो अब तक के प्रेमचंद विषयक अध्ययनों में उठाए नहीं गए थे, उन्हें विवेचित किया गया है । कहानियों में आए दलित पात्रों का शोषण और दमन के खिलाफ प्रतिक्रिया क्या है ? वे सामाजिक-परिवर्तन में सहायक हैं या नहीं इस पर भी ध्यान केंद्रित किया गया है ।

शोध कार्य के दौरान गहरे आत्म-मंथन के दौर से गुज़रना पड़ा । ऐसे में मेरी जिज्ञासा और प्रश्नाकुलता को बढ़ाने; सोच, समझ, विचार और चिंतन को तराशने तथा एक नई दृष्टि विकसित करने में शोध-निर्देशक डॉ॰ पुरुषोत्तम अग्रवाल की अग्रणी भूमिका रही है । आपके सान्निध्य में विचार-स्वातंत्र्य की पूरी छूट मिली । विषय-चयन से लेकर शोध-कार्य पूरा होने तक शोध-निर्देशक का जो स्नेह और सहयोग मिला उसके आभार में मेरे पास शब्द नहीं हैं ।

सुमन मैडम के स्नेह और प्रोत्साहन से काफ़ी आत्मबल मिला । अनु भाभी - राज भैया का अटूट प्यार तथा कुसुम भाभी - बाबू सिंह भाई साहब का मधुर स्नेह शोध के दौरान मेरे उत्साह और मनोबल को बढ़ाता रहा ।

मित्र और सहपाठी बजरंग ने विषम परिस्थितियों में भी हर क़दम पर सहयोग करके दोस्ती के महत्व को चरितार्थ किया है । उसके प्रति आभार व्यक्त करना महज़ औपचारिकता होगी ।

मित्रों में राजकुमार, उमाकांत, रवीन्द्र और सैफ़ का सहयोग और प्रोत्साहन नहीं मिलता तो शायद शोध-प्रबंध का यह रूप नहीं होता । इनके साथ हुई वैचारिक बहसों से बहुत सारी बातें स्पष्ट हुईं । इनका आभार व्यक्त करके निकटता को कम करना होगा ।

वरिष्ठ मित्रों में भाई राना जी, शिवकुमार जी, राजकीय पुस्तकालय गाज़ियाबाद के पुस्तकालयाध्यक्ष राकेश जी, दलित प्रक्रिया (हिंदी मासिक) के संपादक कर्मशील जी एवं बेचैन जी ने वैचारिक और पुस्तकीय सहयोग देकर अपने फ़र्ज़ को निभाया है ।

भाई सपन, अशोक, नवल, रबीन्दर, निजिलिंगप्पा, स्वतंत्र, अभय और संतोष ने अमूल्य सहयोग देकर भ्रातृत्व और मित्रता को और बढ़ाया है ।

विशेष तौर से मैं उन "मित्रों" और "विद्वज्जनों" का शुक्रगुज़ार हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्षत: - अप्रत्यक्षत: शोध संबंधी विषय के नाम से नाक-भौं सिकोड़कर कार्य की गम्भीरता को बढ़ाने और बनाए रखने में योगदान दिया ।

.....

— रामचन्द्र

पहला अध्याय

दलित का आशय

अमानवीय व्यवस्था की चक्की में पिसता भारतीय समाज का बहुत बड़ा हिस्सा सदियों की सुगबुगाहट के बाद जब सचेत हुआ तो उसने अपने पर थोपी गई पहचानों, आत्मसात करा दी गई मूल्य-सरणियों को प्रश्नों से बींधना और प्रदत्त सामाजिक ढांचे को कठघरे में खड़ा करना शुरू कर दिया । मोहक शब्दावलियों - आकर्षक अवधारणाओं दार्शनिक उपपत्तियों की असलियत क्रमशः उघाड़ी जाने लगी । अपनी अस्मिता की तलाश यहीं से शुरू होती है । इसी अस्मितागत आत्ममंथन से निकला "दलित" शब्द एक समुदाय विशेष का बोध कराने के साथ उस वेदना, आक्रोश और आमूल परिवर्तन की आकांक्षा का वाहक बना, जो उसे आंदोलन की शक्ल देता है और चिंतन की एक सर्वथा नई भावभूमि उपलब्ध कराता है । जिसके प्रणेता और प्रेरणा-स्रोत - फुले, अम्बेडकर, पेरियार, नारायण गुरू और शाहू जी महाराज हैं, जिन्होंने आत्मसम्मान और सामाजिक अस्मिता की भावभूमि तैयार की ।

सदियों से जिसे साहित्य और समाज के हाशिए पर फेंक दिया गया था तथा जिसे शूद्र, अति शूद्र, अंत्यज, चाण्डाल, अवर्ण, पंचम, हरिजन आदि नामों से विहित करके घृणा, हिकारत, निरीह और

दया का पात्र बना दिया गया था, वही आज प्रखर आत्मबोध के साथ इन सारी शब्दावलियों को ठुकराकर स्वयं "दलित" के रूप में अपनी अस्मिता का बोध साहित्य, समाज और राजनीति तीनों ही स्तरों पर करा रहा है, ज़बर्दस्त दस्तक दे रहा है और, यही नहीं, अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज करा रहा है तथा अपने अधिकारों के लिए स्वयं संघर्ष कर रहा है । दलित को "दया" से घृणा है, उसे दया और सहानुभूति नहीं 'अधिकार" चाहिए । जिसकी पदचाप मराठी, गुजराती और अन्य भाषा-साहित्यों के साथ-साथ हिन्दी में भी नकार, वेदना और आक्रोश के रूप में दलित साहित्य में सुनाई पड़ रही है, अभिव्यक्त हो रही है । "दलित साहित्य की अपनी अलग ही पहचान है । वह पूर्ण रूप से समाजाभिमुख है । सामाजिक समता, स्वतंत्रता और बंधुभाव, तथा वर्ण-व्यवस्था का विरोधी स्वर ही उसकी नींव है । सामाजिक परिवर्तन उसका मूल लक्ष्य है [1]।" दलित साहित्य ने आम आदमी को नायक बनाया; दलित व्यक्ति को सिर पर बैठाया, क्योंकि दलित साहित्य व्यक्ति को ही सर्वोपरि मानता है । देव और धर्म से ऊँचा व्यक्ति को मानता है । धर्म से ऊपर व्यक्ति को मानकर साहित्य लिखा जाता है । [2]

"दलित" शब्द और "दलित साहित्य" अपनी अर्थवत्ता, व्यापकता सार्थकता तथा अस्मितागत बोध के रूप में आज विद्वज्जनों के मध्य साहित्यिक विमर्श का विषय बना हुआ है । अत:'दलित का आशय" व्यापक

दृष्टि और बहस की मांग करता है । विषय को आगे बढ़ाने से पूर्व इस बात को स्पष्ट कर देना उचित होगा कि प्रेमचंद-साहित्य में 'दलित" शब्द का प्रयोग नहीं मिलता; बल्कि, हिंदू सामाजिक-व्यवस्था में अन्तर्निहित वर्ण-व्यवस्था का विकसित और परिवर्द्धित रूप 'जाति-उपजाति' के रूप में ही उनकी कहानियों के पात्र वर्णित है । अत: शोध प्रबंध के विषय में "दलित" का ही प्रयोग क्यों - "शोषित", हरिजन" आदि शब्दों का प्रयोग क्यों नहीं ? फिर अगला सवाल सहज ही पूछा जा सकता है कि क्या प्रेमचंद-साहित्य "दलित-साहित्य" की कोटि में आएगा ? लेकिन इन तमाम सवालों से टकराने से पहले प्रासंगिक होगा कि सर्वप्रथम दलित का अर्थ, उसके स्वरूप, विकास एवं विचार-यात्रा पर प्रकाश डाल लिया जाय ।

हिंदी शब्दकोशों में "दलित" शब्द का अर्थ कुछ इस प्रकार वर्णित है

§i§ मसला हुआ, मर्दित
§ii§ दबाया, रौंदा या कुचला गया
§iii§ खण्डित
§iv§ विनष्ट किया हुआ [3]।

दलित शब्द के अन्तर्गत कुचले गए, दबाये गए जनों की जीवन कहानी उतनी ही पुरानी है, जितनी भारतीय हिंदू संस्कृति पुरातन है । चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भारतीय संस्कृति की अपनी एक विचित्र विशेषता है । ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों पर आधारित चातुर्वर्ण्य -

व्यवस्था ऋग्वैदिक काल सेलेकर अद्यतन विद्यमान रही है । आज जो हिंदू-संस्कृति खड़ी है उसका मूलाधार धार्मिक ग्रंथ हैं जो आज भी संस्कृति निर्वहन में प्रासंगिक बने हुए हैं । वेदों, स्मृतियों, पुराणों में व्यक्त जीवन-पद्धति वर्ण-व्यवस्था पर टिकी हुई है । इनका सृष्टा मानव नहीं ईश्वर है इन अवधारणाओं के प्रतिपादक सभी धार्मिक ग्रंथ प्रत्येक वर्ण का कार्य बतला चुके हैं । "शूद्र", ब्राहमण, क्षत्रिय और वैश्य के भार तले सबसे नीचे आता है, जिसका कर्त्तव्य शेष सभी वर्गों की सेवा बताया गया है । "स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से अथवा इस जन्म में तथा अगले जन्म के उद्देश्य से शूद्र को ब्राहमण की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि जिसे ब्राह-मण का सेवक माना जाता है, उसे सभी सुख-शांति प्राप्त होती है ।"

§ मनुस्मृति, 10, 122§

प्राचीन काल में शूद्र की स्थिति नगण्य एवं उसका जीवन निरर्थक था । उस समय शूद्रों का कर्त्तव्य था कि वे दास्य-भाव से ब्राहमण की सेवा-शुश्रूषा करते रहें । मौर्य-काल से पूर्व की शूद्रों की सामाजिक स्थिति का जायज़ा लेते हुए इतिहासकार रामशरण शर्मा "शूद्रों का प्राचीन इतिहास में लिखते हैं कि उस समय शूद्रों की दशा और बिगड़ गई । विधि-प्रवर्त्तकों ने उस पुरानी मान्यता पर जोर दिया कि शूद्र की उत्पत्ति सृष्टिकर्त्ता के पांव से हुई और इस आधार पर उन्होंने संगति, आहार, विवाह और शिक्षा की दृष्टि से उस पर अनेक प्रकार की सामाजिक अशक्तताएं आरोपित कर दीं । उच्च वर्णों के लोगों ने आमतौर से और ब्राहमणों ने खास तौर से शूद्रों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया[4]।"

(मौर्यकालीन रचना "कौटिल्य का अर्थशास्त्र" से ज्ञात होता है कि शूद्रों को अपनी जीविका के लिए पूर्णतया उच्च वर्ण के मालिकों पर निर्भर रहना पड़ता था[5] ।) कौटिल्य ने विहित किया है कि जब कोई शूद्र अपने को ब्राहमण कहे, देवताओं की सम्पत्ति चुराए या राजा का बैरी हो तो विषैली दवाओं का प्रयोग करके उसकी आंखें नष्ट कर दी जाएं या उससे आठ सौ पण जुर्माना वसूला जाए[6]।) लगभग 200 ई. पू. से 200 ई. सन् के बीच शूद्रों की स्थिति का ज्ञान मनु के विधि ग्रंथ से प्राप्त होता है । मनु ने अपने ग्रंथ में शूद्रों के प्रति घोर अमानवीयता का परिचय दिया है । शूद्रों और स्त्रियों को विद्या एवं वेद-अध्ययन के अधिकारों से वंचित तो रखा ही गया था-साथ ही, वेद-पठन सुनना भी वर्जित था । मनुस्मृति के अनुसार -

12.4. (यदि शूद्र जानबूझकर वेदों का पठन सुनता है, तब उसके कानों में पिघलता शीशा या लाख डाली जाए । यदि वह वेदों का उच्चारण करता है, तब उसकी ज़बान काट दी जाए, यदि वेदों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है, तब उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएं ।)

10.123. (शूद्र के लिए ब्राहमण की सेवा करना, केवल यही सर्वोत्तम व्यवसाय है क्योंकि इसके अलावा वह जो कुछ भी करता है, उससे कोई फल की प्राप्ति नहीं हो सकती ।)

8.270. शूद्र किसी द्विज की घोर भर्त्सना करता है तो उसकी जीभ को चीर दिया जाए, क्योंकि उसने ब्रहमा के निम्नतम भाग से जन्म लिया है ।

8. 379. (पुरोहित वर्ग के व्यभिचारी को प्राण-दंड देने की बजाय उसका अपकीर्तिकर मुंडन करा देना चाहिए तथा इसी अपराध के लिए —

8. 359. यदि कोई शूद्र पुरोहित की पत्नी के साथ वास्तव मे व्यभिचार करता है, तो उसे मृत्यु-दंड मिलना चाहिए।)

शूद्रों से नीचे भी एक वर्ण है, जिसे अति शूद्रों की स्थिति का अंदाज़ा स्वत: ही लगाया जा सकता है। उपनिषदों और महाभारत से विदित होता है कि चातुर्वर्णों के अतिरिक्त समाज में अनेकानेक जातियां थीं, जिनकी उत्पत्ति अनुलोम और प्रतिलोम जैसे अन्तर्जातीय-विवाह से हुआ था। §छां. उप. 5. 10. 7§ ऐसी विभिन्न जातियां तत्कालीन समाज में सवर्णता या अवर्णता का बिना ध्यान रखे ही कुछ लोगों द्वारा विवाह-संबंध स्थापित करके उत्पन्न हुईं §महाभारत, वनपर्व, 80. 31-33§ अनेक स्मृतिकारों के अनुसार भी विविध जातियों की उत्पत्ति अन्तवर्णीय या असवर्ण - विवाह से हुई थी। मनु के अनुसार ऐसे विवाह से उत्पन्न संतान वर्ण-संकर कही गई - §मनु. 10. 40§

समय की गतिशीलता और परिवर्तनशीलता के साथ शूद्रों-अति-शूद्रों को भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया गया; जैसे- चाण्डाल, अंत्यज, अवर्ण, अस्पृश्य आदि। नामकरण का ये पहला चरण है। नाम - करण के भी कई चरण हैं, जिसको ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनै-तिक परिप्रेक्ष्य में रख कर समझा जाना चाहिए। दूसरे चरण में 'पंचम,' 'हरिजन,' तीसरा चरण जिसे सरकारी या राजनैतिक कह सकते हैं, में डिप्रेस्डक्लासेज, अनुसूचित-जाति, अनुसूचित-जनजाति एवं पिछड़ी-जाति तथा चौथे चरण 'बहिष्कृत' और 'दलित' शब्द विश्लेषणात्मक बहस की मांग करते हैं। दूसरे, तीसरे और चौथे चरण के अंतर्गत प्रयोग किये गये शब्दों

पर बहस आरम्भ करने से पूर्व पहले चरण की संक्षिप्त चर्चा ।

चाण्डाल के बारे में मनुस्मृति में वर्णित है कि "समाज में चाण्डाल जाति अत्यन्त निम्न मानी जाती थी । इसकी उत्पत्ति शूद्र-पुरुष और ब्राहमण-स्त्री से हुई थी, §मनु. 10. 12§ मनु ने लिखा है कि चाण्डाल और श्वपचों को गांव के बाहर निवास करना चाहिए तथा कुत्ते और गधे उनकी संपत्ति होनी चाहिए । §मनु. 10. 51§ जातकों से चाण्डाल की अत्यंत हीन अवस्था का पता चलता है । उनमें उसकी अनेकानेक दयनीय अवस्थाओं का चित्रण है - उससे हवा भी दूषित हो गई समझी जाती थी । §जातक, 3, पृ. 323§[7]

भारतीय समाज की स्थिरता और अपरिवर्तनशीलता का गुणगान करने वालों की बात इस अर्थ में सही मानी जा सकती है कि इस समाज में एक निश्चित व्यवस्था मामूली हेर-फेर के साथ लगातार बनी रही । गुप्तकाल के बाद राजनैतिक स्तर पर अस्थिरता आई तथा गतिशीलता में कमी हुई । गांव आत्मनिर्भर इकाइयों के रूप में विकसित हुए जिनका बाहर की दुनिया से बहुत कम सम्पर्क था, ऐसे में एक जड़ समाज का विकास हुआ, जिसमें शूद्रों का शोषण राज्य द्वारा भूमि प्राप्त ब्राहमणों के द्वारा और अधिक संभव हो पाया । गुप्त काल के समापन अवधि की रचना विष्णु-स्मृति में पहली बार "अस्पृश्य" शब्द का प्रयोग मिलता है । 7 वीं शताब्दी में उत्तर-भारत में वर्द्धन-वंश और दक्षिण में पुलकेशिन द्वितीय जैसे शासकों ने एकीकरण और प्रशासनिक स्थिरता स्थापित की, जो बाद के वर्षों में टूटती, बिखरती और बनती रही, लेकिन सामाजिक गठन में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं दिखता ।

इस्लाम के आगमन के बाद एक बारगी ऐसा लगा कि स्थापित व्यवस्था का विकल्प सुलभ हुआ है । लेकिन जल्दी ही नये शासकों ने यहां के सामाजिक गठन से समझौता कर लिया और यह सहूलियत पा-ली कि परम्परागत वर्चस्वशाली तबका उनसे जुड़कर सहयोग करता रहे । लेकिन भारतीय समाज के इतिहास में इसी समय सबसे अभूतपूर्व घटना होती है और वह है भक्ति-आंदोलन । भक्ति केवल अराध्य के प्रति आराधक का समपर्ण-भाव भर नहीं है । भक्ति आत्मालोचन का और सतत सामाजिक आलोचना का माध्यम भी है । अपनी ऐतिहासिक भूमिका में भक्ति अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था से टकराने का माध्यम भी रही है । वर्णव्यवस्था की आलोचना भक्तिकाल के पहले से नाथ, सिद्धों के यहां मिलती है लेकिन उसमें प्रखरता और लोकस्वीकृति का सहभाव नहीं था और इसीलिए यह सारी आलोचना §नाथ पंथियों आदि की§ आंदोलन का रूप नहीं ले सकी थी । भक्ति-आंदोलन के अपने विरोधा-भास हैं और ऐतिहासिक सीमाओं के कारण अन्तर्निहित कमज़ोरियां भी; बावजूद इसके मुक्तिकामी विमर्श विकसित करने, वास्तविक जीवन में परिवर्तन लाने और सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के धरातल पर उसका युगांतकारी महत्व नज़र-अंदाज़ नहीं किया जा सकता । कबीर जिन शब्दों में वर्णव्यवस्था की मज़म्मत करते हैं वह उनकी एकल अभिव्यक्ति नहीं अस्मितागत दमन के प्रतिरोध का प्रस्फुटन है । इस तबक़े से रचना-कारों की एक जमात बनी और व्यवस्था की चक्की में पिसते रहे लोगों की आवाज़ धार्मिक रूपकों, साधनापरक मुहावरों और साथ में अस्मिता-गत शब्दावली में व्यक्त हुई ।

इसके साथ यह भी उल्लेखनीय है कि कहीं से टूटती, कहीं से चर-मराती व्यवस्था को बचाने के बड़े सशक्त प्रयास जारी रहे । तुलसी इन्हीं प्रयासों के प्रभाशाली प्रवक्ता के रूप में हमारे सामने आते है, जिनका एक मात्र ध्येय उभरती आवाज़ों को दबाना और ब्राहमण वर्चस्व को स्थापित करना है । यहां रामचरितमानस में आये कबंध प्रसंग से दो एक पंक्तियां उद्धृत करना प्रासंगिक होगा -

सापत ताड़त परूष कहंता ।
विप्र पूज्य अस गावहिं संता ।।
पूजिए विप्र सील गुनहीना ।
सूद्र न गुन ग्यान प्रवीना ।।

§ मानस-अरण्यकांड533/1-2 §

यह बात ज़्यादा महत्वपूर्ण है कि भक्ति आंदोलन की परंपरा टूट गई । और सामाजिक आलोचना करने वाले कबीर आदि लोगों के नाम पर पंथ और मठ बन गए और सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के धरातल पर इस समुदाय के लोग ग़ायब से हो गए । इसी से जुड़ा हुआ प्रश्न है कि निर्गुण भक्ति संवेदना में व्यक्त विचार वास्तविक धरातल पर फलीभूत क्यों न हो सके ? डा० पुरूषोत्तम अग्रवाल अपनी 'तीसरा रूख़' नामक पुस्तक में संकलित लेख "वर्णाश्रम और मानवाधिकार" में लिखते हैं; इस प्रश्न का उत्तर असल में वर्णाश्रमवादी विचार और जाति व्यवस्था की जीनियस का सबसे बड़ा प्रमाण है । एक तो ऐसा ढांचा जिसमें सर्वग्राही "समग्रता है, फिर ठेठ लौकिक सत्ता को परम अलौकिक ईश्वरेच्छा का

का रूप ही नहीं, बल्कि उसकी निरंतरता मनवा लेने में इस ढांचे की सफलता । स्वयं इस व्यवस्था का विरोध कर रहे लोगों के संस्कार जगत में इस व्यवस्था के तर्क की मौजूदगी । "पूरब जनम हम बामन होते" यह पंक्ति कबीर ने रची हो या न रची हो, लेकिन उनके अनुयायियों के बीच इसकी स्वीकृति प्रमाणित करती है कि उनकी चेतना में जन्म-गत ऊँच-नीच का मूलतर्क जन्मांतर व्यापी कर्मफल संस्कार का रूप धारण किये बैठा है ।"[8]

दरअसल जहां तक मैं समझ पाया हूँ कि हिन्दू-संस्कृति में ईश्वर की आस्था के फलस्वरूप पनपे कर्मफल, पुनर्जन्म, आत्मा-परमात्मा आदि में ही बुनियादी गड़बड़ है । जनेऊ की वैज्ञानिकता और पूजा-पाठ को भी विज्ञान, मानसिक शांति और संवृद्धि से जोड़कर उसे वैधता प्रदान करना कहीं न कहीं वर्णव्यवस्था को टिकाए रखने की साज़िश ही है । मनवाने की प्रवृत्ति § जिसे आत्मसातीकरण कहा जाता है§ का पोषण यहीं से शुरू होता है । इसीलिए ये बात नोटिस योग्य समझी जानी चाहिए कि क्यों आज दलित ईश्वर के प्रति "आस्था" को चुनौती दे रहा है - आस्था को कठघरे में ला खड़ा किया है । § प्रमाण के रूप में मराठी, गुजराती एवं हिन्दी में लिखा जा रहा दलित साहित्य द्रष्टव्य है§ दलित साहित्य में यह बात मुखर हुई है कि यदि हिंदू-संस्कृति के इन संस्कारों एवं जंजालों से पीछा नहीं छुड़ाया गया तो मानसिक गुलामी से मुक्ति पाना असम्भव है - दुःखी चमार और शंकर कुर्मी को व्यवस्था से मुक्ति पाना संभव नहीं होगा ।

भक्ति आंदोलन के दौरान भक्ति के माध्यम से सामाजिक आलोचना और वर्णाश्रम पर प्रहार तथा आधुनिक काल में दलित बोध के अन्तर्गत उपजा अनास्था का सवाल और सामाजिक परिवर्तन की दुंदुभी को गम्भीर विमर्श का विषय बनाकर इन दो कालों के बुनियादी फ़र्क को समझा जाना चाहिए ।

1914 में सरस्वती में छपी हीरा डोम की "अछूत की शिकायत" नामक कविता मध्यकालीन संत कवियों की कविताओं से कैसे अलग होती है । साहित्य में दलित चेतना पर बहस की शुरूआत का पहला प्रश्न यही बनता है । हीरा डोम की कविता किन अर्थों में आधुनिक बनती है और कबीर आदि की कविताएं किन अर्थों में भिन्न लगती हैं या कम आधुनिक लगती हैं । यह सहज और प्राथमिक जिज्ञासा का विषय है ।

व्यक्ति कई बार भाषा का प्रयोग नहीं करता, भाषा खुद उस व्यक्ति का प्रयोग करती है । भाषा की अपनी सीमा होती है और यह सीमा भाषा में रचे-बसे विचार-तंत्र से अनुशासित होती है । भाषा के रूप में जो लहजा और बनावट कबीर को मिली थी, वैसी ही हीरा डोम की स्थिति नहीं थी । अपने समय की प्रचलित काव्य-भाषा से जितने भी अलग होते है एक स्तर पर उससे गहरे में जुड़े भी हुए हैं । ईश्वर में अगाध आस्था और भक्ति के दायरे में बने रहने की चाह ने जाने-अनजाने कबीर को उनकी मूल प्रस्थापना के विरोध में बातें कहला ही दीं -

पूरब जनम हम बाभन होते
ओछे करम तप कीन्हा ।
राम नाम की सेवा चूका
फकीर जुलाहा कीन्हा ।।

हालांकि इस बात का उद्घाटन करते समय कबीर के महत्व को कम करके नहीं आंका जाना चाहिए । कबीर और उनका साहित्य एक अलग सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व रखता है । सवाल ईश्वर के प्रति अगाध आस्था को लेकर है । दो व्यक्तियों का दर्द, दो कालों और परिस्थितियों की सामयिकता के रूप में समझा जाना चाहिए । विज्ञान के पदार्पण से तर्क और बुद्धि के आधार पर जांच-परख शुरू हुई । हीरा डोम की कविता में ईश्वर से सवाल है-अगर तू अत्याचारों के वक़्त अवतार लेता है तो क्या हमलोगों पर हो रहा अत्याचार दिखाई नहीं देता तुझे । डोम समझकर तुम भी हमें छूने से डरते हो §यहां ईश्वर भी मनुवाद के दायरे में ।§

"हमनी के दु:ख भगवनओ न देख ताजे,

हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि ।

कहंवा सुतल बाटे सुनत न बाटे अब

डोम जानि हमनी के दुर से डेरइले ।"

हीरा की कविता एक संदेह का बीज बो जाती है खुले में घोषणा नहीं करती कि ईश्वर नहीं है, बल्कि ईश्वर के अस्तित्व पर सूक्ष्म और मौन प्रश्न चिह्न लगाती है । कबीर के यहां ईश्वर की सत्ता और अस्तित्व को लेकर कोई संदेह नहीं, अनास्था का दूर-दूर तक कोई स्वर नहीं । हीरा की कविता में भगवान के लिए 'भगवनवा" शब्द का

प्रयोग अपने आप में एक तीखी और गहरे तक झकझोर देने वाली अभिव्यक्ति है ।

दलित पीड़ा की ताप को अनास्था और नकार के रूप में नामदेव ढसाल की कविता के माध्यम से महसूस किया जा सकता है, समझा जा सकता है -

मेरी नजर से तुम पूरे उतर चुके हो
तुम्हारे लिए मुझ में न आदर है
न गुणगान करने की इच्छा ,
लगता है पान खाकर तुम पर ढेर सारा थूक दूँ
डुबो दूँ तुम्हें विष्ठा के मटके में
मैं तुम्हें गालियां देता हूँ तुम्हारे पाखंडीपन को गालियां देता हूँ ।" [10]

यह नकार और आक्रोश हिंदू धर्मशास्त्रों और संस्कारों के प्रति है जिन्होंने मनुष्य की इस भौतिक जीवन की यात्रा को एक काल्पनिक स्वर्ग-नरक और पाप-पुण्य के इंद्रजाल में फंसाकर, शोषण और अन्याय को धार्मिक रूप देकर विद्रोह भाव को ठण्डा कर दिया, मूलतः खो दिया । शूद्रों-अतिशूद्रों के पारस्परिक संबंधों की जांच-पड़ताल का मसला भी अहम है । शूद्रों-अतिशूद्रों से विकसित विभिन्न जातियों-उपजातियों की वर्तमान सामाजिक स्थिति या हैसियत क्या है-ग़ौरतलब है । साथ ही स्त्रियों का मसला भी अहम है । वर्णों से विकसित हुई सभी जातियों -

उपजातियों में स्त्रियों की स्थिति एक सी नहीं है - मसलन जो महिलाएं पर्दे के बाहर हैं और पुरूषों के कार्यों में उनकी सहभागिता है जैसे - "गोदान" की धनिया और जो पर्दे के अंदर हैं - उनकी स्थितियों में फ़र्क़ है । हालांकि सामाजिक-व्यवस्था के धरातल पर अतिशूद्रों से संबंधित स्त्रियों का शोषण और दमन ज़्यादा हृदय-विदारक है - आये दिन नंगा किया जाना और बलात्कार की शिकार इसी समुदाय की स्त्रियां ही होती हैं ये ग़ौर तलब है । लेकिन समग्रत: सभी स्त्रियां किसी न किसी रूप में शोषण की शिकार हैं । इस मसले पर अलग से शोध की ज़रूरत है तभी उक्त वर्ग के साथ न्याय-संभव है । शोध विषय की व्यापकता को देखते हुए मात्र शूद्रों-अतिशूद्रों से संबंधित समुदाय की स्त्रियों की दशा और हैसियत का प्रसंगवश संक्षिप्त अध्ययन ही अपेक्षित होगा ।

व्यवहारिक धरातल पर देखा जाय तो ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य की पहचान से जो जातियां बाहर हैं उनकी पहचान क्या है ? क्या उनको शूद्र-अतिशूद्र के रूप में ही माना जाना चाहिए ? यह एक अलग सवाल है । इनमें भी एक स्पृश्य वर्ग है और दूसरा अस्पृश्य । स्पृश्य§शूद्र§ वर्ग की तमाम जातियां अपने गौरवपूर्ण अतीत की तलाश कर चुकी हैं मसलन उत्तर भारत में भूस्वामी जातियां जाट, गूजर, यादव, कुर्मी आदि अपने को क्षत्रियों का ही वंशज मानती हैं और हिंदू सामाजिक-व्यवस्था की प्रवृति को आत्मसात करके अतिशूद्रों या अस्पृश्यों के साथ उनका जो संबंध है वह शेष वर्णों या जातियों जैसा ही है ।

इसी तरह दक्षिण भारत में भूस्वामी जातियां कम्मा और रेड्डी द्वारा भी अस्पृश्यों का शोषण जारी है । इस हक़ीक़त को सिर्फ़ ये मानकर ख़ारिज नहीं किया जा सकता कि हिंदू-संस्कृति के अंतर्गत प्रत्येक जाति अपने से नीची जाति खोज लेती है, बल्कि अपने को गौरवशाली जोड़ना , आर्थिक सम्पन्नता और टूटते हुए वर्चस्व में इनकी शक्ति और भागीदारी के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए । सामाजिक परिस्थितियों में भी फ़र्क़ है । तत्पश्चात् वर्ण-व्यवस्था का मानसिक संवहन संवर्द्धित होता है जिसके फलस्वरूप टूटते वर्चस्व में ये जातियां अपने को सर्वश्रेष्ठ मानना शुरू कर देती हैं ।

भारतीय समाज में सभी जातियों की स्थिति एक जैसी नहीं है । फिर भी स्पृश्य और अस्पृश्य दोनों ही जातियां वर्णव्यवस्था की मार को झेल रही हैं । तात्पर्य यहकि प्रेमचंद की कहानी "सवा - सेर गेहूं" का "शंकर कुर्मी, और सद्गति का दुःखी चमार" की सामाजिक स्थितियों में फ़र्क़ है । दोनों ही हिन्दू सामाजिक-व्यवस्था के शिकार हैं , लेकिन दुखी चमार अस्पृश्यता और ग़रीबी दोनों का शिकार है । इसी प्रकार भारत की जनजातियां अधिकतर स्पृश्य हैं, जिनका संबंध जंगलों से रहा है(कुछ का आज भी हैं) और समाज से बिल्कुल कटी रही हैं तथा आर्थिक-विषमता के दौर से गुज़र रही हैं। ये भी वर्णव्यवस्था के शोषण की शिकार हैं । अर्थात् आर्थिक विपन्नता और समाज से कटे होने के कारण तथा इनके पास आत्मनिर्भर बनाने वाले संसाधन न होने के कारण इनका शारीरिक और मानसिक रूप से

शोषण जारी है । इनमें कुछ पहाड़ी जातियों को भी सम्मिलित किया जा सकता है ।

हिन्दू समाज-व्यवस्था में अस्पृश्यों की सामाजिक स्थिति क्या है ? इसके लिए डा० अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 5 से मदद ली जा सकती है । "हिंदुओं का गांव हिंदुओं की समाज-व्यवस्था की मानो प्रयोगशाला है । गांव में हिंदू समाज-व्यवस्था का पूरा-पूरा पालन होता है । जब कभी कोई हिंदू भारतीय गांवों का जिक्र करता है तो वह उल्लास से भर उठता है । वह उन्हें समाज-व्यवस्था का आदर्श रूप मानता है । .....

..... । भारतीय गांव अलग-अलग कोई सामाजिक इकाई नहीं हैं । उसमें भिन्न-भिन्न जातियां होती हैं । परन्तु हमारे प्रयोग के लिए यह कहना पर्याप्त है -

1. गाँव में दो तरह की आबादी होती है - §क§ स्पृश्य और §ख§ अस्पृश्य ।
2. स्पृश्य लोगों की संख्या अधिक और अस्पृश्य लोगों की संख्या थोड़ी होती है ।
3. स्पृश्य लोग गांव में रहते हैं और अस्पृश्य गांव के बाहर अलग-अलग घर बनाकर रहते हैं ।
4. आर्थिक दृष्टि से स्पृश्य लोग सबल और शक्तिशाली होते हैं, जबकि अस्पृश्य लोग ग़रीब और पराश्रित होते हैं ।
5. स्पृश्य लोग सामाजिक दृष्टि से शासकों की जाति होती है, जबकि अस्पृश्य लोग पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे बंधुआ लोगों की जाति होती है ।"[11]

प्रत्येक गांव में स्पृश्य लोगों की एक आचार-संहिता होती है, जिसका अस्पृश्यों को पालन करना होता है । यह संहिता उन कार्यों को निश्चित करती है, जिनको करने या न करने पर अस्पृश्य लोगों का अपराध माना जाता है - जैसे -

§I§ अस्पृश्यों को चाहिए कि वे अपने घर हिंदुओं की बस्तियों से दूर बनाएं ।

§II§ अस्पृश्य लोगों के घर गांव के दक्षिण में होने चाहिए, क्योंकि चारों दिशाओं में दक्षिण दिशा ही सबसे अशुभ मानी जाती है ।

§III§ अस्पृश्य को चाहिए कि वह इस बात का ध्यान रखे कि छू जाने या उसकी छाया से भी पाप लगता है ।

§IV§ अगर कोई अस्पृश्य अपने बच्चों के अच्छे नाम रखता है तब वह अपराध करता है ।

§V§ अगर कोई अस्पृश्य घोड़े पर चढ़कर या पालकी में बैठकर गांव से गुज़रता है, तब वह अपराध करता है ।

§VI§ अगर कोई अस्पृश्य किसी हिंदू के सामने कुर्सी या चटाई पर बैठता है तब वह अपराध करता है ।[12]

§VII§ हीनता सूचक नाम रखना, स्वच्छ वस्त्र न पहनना, चांदी, सोने के ज़ेवर न पहनना इत्यादि ढेरों आचार-संहिताएं विकसित कर ली गई हैं ।

यह व्यवस्था हैसियत और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही है । एक बार स्पृश्य तो हमेशा के लिए स्पृश्य। एक बार अस्पृश्य तो हमेशा के लिए अस्पृश्य। एक बार

ब्राहमण तो हमेशा के लिए ब्राहमण । एक बार भंगी तो हमेशा के लिए भंगी । जो लोग उच्च-जातियों में पैदा होते हैं, वह इस व्यवस्था में हमेशा उच्च रहते हैं, और जो निम्न-जाति में पैदा होते हैं, वे हमेशा निम्न रहते हैं । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह व्यवस्था कर्म, अर्थात् भाग्य के अटल सिद्धांत पर आधारित है, जो एक बार हमेशा के लिए निश्चित होता है और जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता । इस व्यवस्था में किसी व्यक्तिगत योग्यता या अयोग्यता का कोई स्थान नहीं है । कोई अस्पृश्य ज्ञान और आचार-विचार में कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो लेकिन ज्ञान और आचार-विचार में वह स्पृश्य से नीचे ही समझा जाएगा ।"[13] डा० अम्बेडकर स्वयं भी इस व्यवस्था के शिकार हुए थे । विलायत से विद्या गुण-ज्ञान प्रवीण होकर लौटे थे और एक मंदिर में दर्शनार्थ गए तो उन्हें प्रवेश करने से रोक लिया गया । डा० अम्बेडकर द्वारा एक तालाब से पानी पी लेने पर उस तालाब को गोबर, गोमूत्र और कई सौ लीटर दूध से शुद्ध किया गया । उपप्रधानमंत्री रह चुके बाबू जगजीवन राम के द्वारा 80 के दशक में डा० सम्पूर्णानंद की मूर्ति का अनावरण किये जाने पर उस मूर्ति को गंगा जल से शुद्ध किया गया ।

"पेशवाओं की राजधानी पूना में किसी भी अछूत के लिए अपनी कमर में झाड़ू बांधकर चलना आवश्यक था, जिससे कि उसके चलने से पीछे की धूल साफ होती रहे और ऐसा न हो कि कहीं उस रास्ते

से चलने वाला कोई हिंदू उससे अपवित्र हो जाए । पूना में अछूतों के लिए यह आवश्यक था कि जहां कहीं भी वे जाएं अपने थूकने के लिए मिट्टी का एक बर्तन अपनी गर्दन में लटका कर चलें, क्योंकि ऐसा न हो कि कहीं जमीन पर पड़ने वाले उसके थूक से अनजाने में वहां से गुज़रने वाला कोई हिंदू अपवित्र हो जाए ।"[14]

4 जनवरी 1928 के "टाइम्स ऑफ इंडिया" की एक रिपोर्ट के अनुसार इंदौर रियासत के कनरिया, बिचोली-हाफसी, बिचोली-मर्दाना गांवों तथा इंदौर जिले के 15 अन्य गांवों की ऊँची जाति के हिंदुओं ने अपने-अपने गांवों के बलाइयों §एक अस्पृश्य जाति§ को ताकीद की कि वे यहां रहना चाहते हैं तो नियमों का पालन अवश्य करना होगा -

§क§ बलाई सुनहरी गोटेदार किनारी की पगड़ियां नही बांधेंगे । वे रंगीन या फैंसी किनारी की धोतियाँ नहीं पहनेंगे ।

§ख§ बलाई स्त्रियां सोने या चांदी के आभूषण नहीं पहनेंगीं । वे फैंसी गाउन या जाकेट भी नहीं पहनेंगी ।

§ग§ बलाई स्त्रियों को हिंदू स्त्रियों के प्रसव के सभी मामलों में देखभाल करनी होगी ।

§घ§ बलाई लोगों को बिना कोई पारिश्रमिक मांगे सेवा करनी होगी और हिंदू उन्हें जो कुछ खुश होकर देंगे, लेना होगा ।

§च§ अगर बलाई लोग इन शर्तों का पालन करना स्वीकार नहीं करते हैं तो उन्हें गांव को छोड़ना होगा ।

बलाई लोगों ने इन्हें मानने से इंकार कर दिया और हिंदुओ ने उनके विरूद्व कार्रवाई की । उनका अत्याचार बढ़ गया , सैकडों बलाई लोग अपने बाल-बच्चों सहित अपने घरों को जहां वे पीढ़ियों से रहते आ रहे थे, छोड़कर समीपवर्ती रियासतों अर्थात् धार, देवास, बागली, भोपाल, ग्वालियर तथा अन्य रियासतों के गांवों में जाकर बसने के लिए मजबूर हो गए ।[15]

29 मई 96 राजस्थान के कोटाजिले के थोब्बपुरथाना के मण्डाना गांव में गांव के ही तथा कथित ऊँची जाति के लोगों द्वारा बैरवा §एक अस्पृश्य जाति § जाति के दुल्हे को घोड़ी से उतार कर पटक दिया गया और इसे अपराध घोषित करते हुए सभी बारातियों को पीटा गया तथा दुल्हे पर पेशाब फेंककर अपमानित किया गया ।[16]

यही है भारतीय गांवों के भीतरी जीवन की तस्वीर । इस गणतंत्र में लोकतन्त्र के लिए कोई स्थान नहीं । इसमें समता के लिए कोई स्थान नहीं । इसमेंस्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं । इसमें भ्रातृत्व के लिए कोई स्थान नहीं । भारतीय गांव गणतंत्र का ठीक उल्टा रूप है । अगर यह गणतंत्र है तो यह स्पृश्यों का गणतंत्र है, स्पृश्यों के द्वारा है और उन्हीं के लिए है । यह गणतंत्र अस्पृश्यों पर स्थापित हिंदुओं का एक प्रकार का उपनिवेशवाद है, जो अस्पृश्यों का शोषण कर रहे हैं ।[17]

उपनिवेशीकृत समाज में संघर्ष के दो मोर्चे थे एक विदेशी उपनिवेश के ख़िलाफ़ और दूसरा जिसे डा० नामवर सिंह, रवीन्द्र नाथ ठाकुर के गोरा" उपन्यास के संदर्भ में प्रति उपनिवेशीकरण कहते हैं, इस आंतरिक उपनिवेशी करण के ख़िलाफ़ प्रति उपनिवेशीकरण के शिकार लोगों के प्रवक्ता चाहे ज्योतिबा फुले हों या डा० अम्बेडकर, पहले इस समस्या को ख़त्म करना चाहते थे और जब तक आंतरिक उपनिवेशवाद ख़त्म न हो जाय तब तक विदेशी उपनिवेशवाद को जरूरी मानते थे। इस आधार पर ज्योतिबा फुले और डा० अम्बेडकर को राष्ट्र विरोधी भी कहा जाता है। प्रथम गोल मेज़ सम्मेलन में अपनी चिंता ज़ाहिर करते हुए डा० अम्बेडकर ने कहा था, "हम जानते हैं कि राजनीतिक सत्ता अंग्रेजों के हाथ से निकलकर ऐसे लोगों के हाथों में जा रही है, जिनका हमारे जीवन पर अत्यधिक आर्थिक-सामाजिक और धार्मिक प्रभुत्व है। हम चाहते हैं कि सत्ता का हस्तांतरण हो, चाहे स्वराज्य का विचार अतीत में हम पर किए गए जुल्म, अत्याचार और अन्याय की याद दिलाता हो। और हो सकता है कि स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् हमें पुनः उन जुल्मों और अत्याचारों का शिकार होना पड़े।"[18]

आज़ादी मिली, सरकारें बदलीं परन्तु जाति के सवाल को दर किनार किया जाता रहा। अत्याचार और ज़ुल्म आज भी जारी है। विदेशी उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद आंतरिक उपनिवेशवाद से किस हद तक मुक्ति मिल सकी है? क्या जाति-व्यवस्था के मूल ढांचे में कोई परिवर्तन आया है? क्या इसे बौद्धिक विमर्श का विषय बनाया

DISS
0,152,3, M80:g(Y,5927)
152N6
TH-6264

गया ।'संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध'नामकपुस्तक में संकलित लेख 'जातिवादी कौन ।' में बड़ी संजीदगी से इस सवाल को उठाया गया है "क्या कारण है कि भारत में समाजशास्त्र के जनक प्रो० घुरये से लेकर मार्क्सवादी समीक्षक डा० राम विलास शर्मा तक बहुत से विद्वान यह साबित करने की जी-तोड़ कोशिश करते रहे हैं कि जाति-व्यवस्था में अनोखा कुछ नहीं है । यह विश्वव्यापी सामंतवाद का भारतीय रूप भर है, जिसकी ख़बर लेने के लिए आधुनिकीकरण या पूंजीवाद से संघर्ष ही पर्याप्त और सही रणनीति है । क्या कारण है कि हर क्षेत्र में जाति की गुप-चुप जोड़-तोड़ करने वाले तो राष्ट्रवादी या प्रगतिशील माने गये, जबकि इसे बौद्धिक-विमर्श और राजनीतिक कार्रवाई का विषय बनाने वालों को बौद्धिक सहानुभूति तो मिलना दूर की बात, उन्हें बार-बार देश तोड़क, समाज-तोड़क और वर्ग-तोड़क कह कर धिक्कारा गया ।"[19])

आज पूरी प्रखरता के साथ वर्ण-व्यवस्था को चुनौती मिलरही है । वर्चस्व का सितारा गर्दिश में डूबता नज़र आ रहा है - ऐसे में एक षड्यंत्र का दौर भी चल रहा है । आज चरमपंथी हिंदुओं द्वारा अस्पृश्य वर्ग को गौरव पूर्ण अतीत के मोहजाल में फंसाकर उनका मानसिक शोषण किया जा रहा है । भंगी जाति को महर्षि बाल्मीकि से जोड़कर उन्हें राम भक्त बनाकर मुसलमानों के ख़िलाफ़ उनको 'यूज' किया जा रहा है । आज दुसाध §पासवान§ को गहलोत राजपूत तथा चमार §जाटव§ को जादव नामक जदुवंशी क्षत्रिय से जोड़कर उनको गौरवपूर्ण अतीत के मोह-जाल में फंसाकर आत्मसातीकरण की प्रवृत्ति को और तेज करने की साज़िश चल रही है । वर्तमान में उनकी हैसियत और दशा

से ध्यान हटाकर गुमराह करने की एक योजना चल रही है । लेकिन आज शूद्र , अतिशूद्र §मध्यवर्गीय, निम्नमध्यमवर्गीय और निम्नवर्गीय-जातियां§ उस मोहपाश से निकलकर अपनी हैसियत और स्थिति का पुनरावलोकन करके अतीत में नहीं बल्कि वर्तमान में सामाजिक अस्मिता की प्रतिस्थापना कर रहे हैं,साहित्य, समाज , राजनीति तीनों ही स्तरों पर ।

जो अतिशूद्र या अस्पृश्य जातियां हैं वे हिंदू चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से बहिष्कृत रही हैं - डा० अम्बेडकर ने 20 नवम्बर 1930 के गोल मेज़ सम्मेलन में इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा था, "दलित वर्ग §डिप्रेस्ड क्लासेज का हिंदी रूपांतर§ स्वयं में ऐसे लोगों का समूह है, जो मुसलमानों से भिन्न एवं अलग हैं । यद्यपि उन्हें हिंदू कहा जाता है, किन्तु वे हिंदू-जाति का किसी भी अर्थ में अविभाज्य अंग नहीं हैं । वे न केवल उनसे अलग रहते हैं, अपितु उन्हें जो दर्जा प्राप्त है, वह भी भारत में अन्य जातियों के दर्जे से बिल्कुल भिन्न है । .....दलित वर्ग अस्पृश्यता के अभिशाप का शिकार है । उससे भी ख़राब बात यह है कि अस्पृश्यता के कारण उन पर लादी गई गुलामी से न केवल सार्वजनिक जीवन में उनके साथ भेदभाव बरता जाता है, बल्कि उन्हें समान अवसरों और मानवीय जीवन के लिए आवश्यक नागरिक अधिकारों से भी वंचित रखा जाता है ।"[20]

1931 से पहले सरकारी तौर पर अस्पृश्य जातियों को डिप्रेस्ड क्लासेज ही कहा जाता था । सन् 1931 में असम की जनगणना के अधीक्षक ने "डिप्रेस्ड क्लास" के स्थान पर एक्सटीरियर क्लास" §बाहरीजाति§

शब्द के प्रयोग का सुझाव रखा, क्योंकि अस्पृश्य या डिप्रेस्ड क्लासका कोई स्थान हिंदुओं की जातीय संरचना के अंदर नहीं था । वे इस संरचना के बाहर के लोग समझे जाते थे । इस सुझाव को सर्व भारतीय प्रयोग के लिए स्वीकार कर लिया गया । इसके फलस्वरूप एक राजनैतिक झगड़े की सृष्टि हुई । 13 नवम्बर 1931 में लंदन में होने वाले गोल मेज़ सम्मेलन में डा0 अम्बेडकरनेएक ओर तो 'डिस्प्रेस्ड क्लास' शब्द का विरोध किया और दूसरी ओर यह सुझाव रखा कि क्यों कि इन्हें हिंदू जातीय संरचना के बाहर मान लिया गया है, इस कारण इन्हें अलग मतदान देने का अधिकार भी देना चाहिए । महात्मा गांधी ने इसका विरोध किया ।"[21]

महात्मा गांधी वर्ण व्यवस्था को आदर्श व्यवस्था मानते थे और उसमें निहित जाति को नकारते थे । उनका यह दृष्टिकोण था कि वर्ण-व्यवस्था और जाति तथा छुआछूत में कोई संबंध नहीं है । अतएव महात्मा गांधी की यह उक्ति थी कि -

"वेद, उपनिषद, स्मृति और पुराण, रामायण तथा महाभारत को सम्मिलित करते हुए, हिंदू शास्त्र हैं .....उनका उत्तम व्याख्याकार कौन है ? निश्चित रूप से विद्वान लोग नहीं हैं । विद्वता सबके पास होनी चाहिए लेकिन धर्म विद्वता के आधार पर जीवित नहीं रहता वह तो संतों और महर्षियों के अनुभवों, उनके जीवन तथा शिक्षाओं, में अभिभूत रहता है ।

वर्ण और आश्रम ऐसी संस्थाएं है जिनका जातियों से कोई संबंध नहीं है । वर्ण नियम हमको यह शिक्षा देता है कि हममें से सबको अपनी जीविका अपने पूर्वजों के धंधों का अनुसरण करके कमानी है । वह हमारे अधिकारों को नहीं, बल्कि कर्त्तव्यों को परिभाषित करता है .....और वर्ण नियम में ऐसी कोई बात नहीं है जो छुआछूत मे विश्वास की गारण्टी देता हो ।

" किसी धर्म का मूल्यांकन उसके बुरे जीवों से नहीं, बल्कि उन उत्तम व्यक्तियों के आधार पर होना चाहिए जिन्हें उसने पैदा किया ।"[22]

महात्मा गांधी ने अपना एक और तर्क प्रस्तुत किया -

"यदि जाति और वर्ण परस्पर परिवर्तित पद हैं और यदि वर्ण शास्त्रों का, जो हिंदू धर्म को परिभाषित करते हैं, अपृथक् अंग है, तो मैं नहीं जानता कि वह व्यक्ति जो जाति अथवा वर्ण का निषेध करता है, अपने को एक हिन्दू कैसे कह सकता है ।"[23]

वर्ण-व्यवस्था को महात्मा गांधी ने पैतृक धंधा और कर्त्तव्य से परिभाषित किया । इस सिलसिले में डा० अम्बेडकर म. गांधी से पूछते हैं, "यदि मैं पूछूं कि अपने आदर्श को उन्होंने अपने जीवन में उतारने के लिए कितना प्रयास किया है । महात्मा जन्म से बनिया हैं । उनके पूर्वजों ने मंत्री पद पाने के लिए व्यापार करना छोड़ दिया था, जो कि ब्राहमण का पेशा है । अपने जीवन में महात्मा बनने से पहले जब पेशा चुनने का अवसर आया तो उन्होंने तराजू की बजाय

वकालत को प्राथमिकता दी । वकालत का परित्याग कर वह आधे संत और आधे राजनीतिज्ञ बन गये । उन्होंने व्यापार को कभी छुआ तक नहीं जो उनका पैतृक पेशा है । उनका सबसे छोटा पुत्र मैं केवल उस पुत्र की बात कर रहा हूँ, जो अपने पिता का अनुयायी है जो वैश्य के घर में जन्मा, लेकिन उसने एक ब्राह्मण लड़की से शादी की तथा जिसने एक बड़े पूंजीपति के समाचार पत्र में नौकरी को चुना है । ऐसी जानकारी नहीं है कि महात्माने पैतृक पेशा न अपनाने के लिए उसकी कभी निंदा की हो । किसी आदर्श को उसके सबसे खराब नमूने से परखना ग़लत होगा और यह उदारता नहीं होगी । लेकिन नि: संदेह महात्मा के पास इससे बेहतर नमूना नहीं है और यदि वह इस आदर्श को अपनाने में असफल होते हैं तो यह आदर्श एक असंभव आदर्श है, जो आदमी की व्यावहारिक मूल प्रवृत्तियों के बिल्कुल विपरीत है ।"[24]

(वर्ण-व्यवस्था महात्मा गांधी के लिए - कोई मानवीय खोज नहीं है बल्कि प्रकृति का एक अकाट्य नियम है, उस प्रवृत्ति का कथन है,- जो सदैव न्यूटन के गुरूत्वाकर्षण का नियम खोजे जाने से पूर्व विद्यमान था, उसी प्रकार वर्ण नियम भी विद्यमान था । यह कर्म हिंदुओं को सौंपा गया कि वे उस नियम की खोज करें ।"[25]" वर्ण मानव अस्तित्व का एक शाश्वत नियम है । वह अनिवार्यत: हिन्दू धर्म का एक अपृथक अंग है । उसी ने हिंदू धर्म की रक्षा की है ।"[26]
" वर्ण आनंद और वास्तविक धार्मिक अनुभव के लिए सबसे सुरक्षा का मार्ग है ।"[27])

महात्मा गांधी द्वारा वर्णाश्रम धर्म की मान्यता एवं प्रामाणिकता पर अत्यधिक बल डा० अम्बेडकर को बिल्कुल अस्वीकार्य था । शारीरिक लक्षणों के अतिरिक्त जाति एवं छुआछूत का मनोवैज्ञानिक प्रभाव क्या पड़ता है - उसमें किस प्रकार की पीड़ा निहित है इसकी अनुभूति डा० अम्बेडकर को थी । महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता की वास्तविकता का कभी अनुभव किया हो संदेहास्पद है ।

" व्यापक रूप मे यह कहा जा सकता है कि गांधी और अम्बेडकर की दृष्टि में मतभेद यह था कि एक ने समस्या को ऊपर की ओर से और दूसरे ने समस्या को नीचे की ओर देखा । गांधी हिंदू व्यवस्था की संरचना को वर्ण विभाजन सहित बनाये रखना चाहते थे, जबकि अम्बेडकर समस्त ढांचे को समानता के आधार पर बदलना चाहते थे । इस प्रकार गांधी ने अपनी शक्ति को हिन्दुओं के हृदय - परिवर्तन में लगाया और यह स्पष्टत: कहा कि उनके कार्यक्रम में उन-शिक्षित अछूतों के लिए कोई स्थान नहीं है जो राजनीतिक दृष्टि से सचेत अपने नागरिक अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं ।"[28]

महात्मा गांधी सुधारवादी थे, परिवर्तनवादी नहीं । वे अछूतों की स्थिति में नहीं, दशा में सुधार चाहते थे - अम्बेडकर और गांधी में मूलत: यही अंतर है । इसी संदर्भ में अम्बेडकर की स्थिति कुएं में गिरे उस व्यक्ति जैसी है, जो प्राण रक्षा के लिए छटपटा रहा है और गांधी की स्थिति कुएं के मुंडेर पर खड़े उस व्यक्ति जैसी है जो कुएं में

गिरे हुए व्यक्ति को बचाने के लिए संवदेनशील है । दोनों की छटपटाहट में जो अंतर है वही अंबेडकर और गांधी की अस्पृश्यता निवारण के लिए की गई कोशिशों में भी है ।

वर्ण और जाति की निष्पत्तियों पर इतनी लम्बी एवं ऐतिहासिक बहस के बाद यह स्वतः ही समझा जा सकता है कि ("भारतीय समाज का ताना-बाना अभी जाति-व्यवस्था पर आधारित है और भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों में परिवर्तन का निर्धारण अभी भी जाति के आधार पर होता है । प्रत्येक हिंदू §यहां इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में कियाजा रहा है§ जिस जाति में जन्म लेता है उसकी वह जाति ही उसके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक जीवन का निर्धारण करती है । यह स्थिति मां की गोद से लेकर मृत्यु की गोद तक रहती है ।"[29])

शूद्रों-अतिशूद्रों को विभिन्न काल-खण्डो में जिन भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया गया उसके चरणों का पीछे संकेत दिया जा चुका है । अस्पृश्य जातियों को भिन्न-भिन्न नामों से उनकी पहचान के लिए उद्धार के लिए विहित किया गया । इनमें अधिकतर नाम उनके द्वारा दिये गए जो अस्पृश्य समुदाय के नहींथे। चाण्डाल, अंत्यज, अवर्ण, अस्पृश्य आदि नाम जो हिंदू-वर्णव्यवस्था से अलग पहचान रखते हैं,- समाज में इनकी हीन दशा का बोध कराते हैं-ये तमाम नामकरण इनको हीन तथा स्वयं को श्रेष्ठ मानकर विहित किये गए ।

इन शब्दो में एक प्रकार की तीखी घृणा और तिरस्कार का भाव निहित है ।

महात्मा गांधी द्वारा इस समुदाय को "पंचम" और "हरिजन" नाम दिया गया, जिसका अपना ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व है । जैसा कि "पंचम" के बारे में संकेत दिया जा चुका है कि हिंदू चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में उक्त समुदाय को पांचवे वर्ण के रूप में जोड़कर, हिंदू संस्कृति का ही अंग बनाने की रणनीति के तहत उक्त शब्द प्रयुक्त हुआ । इस समुदाय का हिंदू-संस्कृति में कोई अस्तित्व नहीं था, लेकिन मुख्यत: हिंदुओं द्वारा ही इनका शोषण एवं दमन होता था । अस्पृश्यों के लिए ही प्रशासनिक तौर पर 1931 में एक्स्टीरियर क्लास" शब्द प्रयोग का सुझाव रखा गया जिसका उल्लेख पृष्ठ 23 पर किया जा चुका है । इसके तहत यह उल्लेख किया गया कि चूंकि इन जातियों (जिसे उस समय तक डिप्रेस्ड क्लास कहा जाता था) का हिंदुओं की जातीय संरचना में कोई स्थान नहीं है । अत: डिप्रेस्ड क्लास" के स्थान पर एक्टीरियर क्लास (बाहरी या बहिष्कृत वर्ग) नाम विहित किया गया है । 1931 के गोल मेल सम्मेलन में ही यह बात उठाई गई थी । उसी सम्मेलन में डा0 अम्बेडकर "डिप्रेस्ड क्लास" शब्द का विरोध करते हुए और इन जातियों को बहिष्कृत" या हिंदू जातीय संरचना से बाहर की जाति के रूप मे वैधता प्राप्त हो जाने के बाद पृथक निर्वाचन का प्रस्ताव रखा जिसका महात्मा गांधी ने विरोध किया ।

भारत सरकार अधिनियम 1835 के तहत डिप्रेस्ड क्लास एक्सटीरियर क्लास के स्थान पर 'अनु. जाति' 'अनु. जनजाति, शब्द प्रशासनिक तौर पर प्रयोग में आए ।

जातीय-संरचना और सामाजिक-आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर सरकारी तौर पर उत्थान हेतु जातियों की अनुसूची तैयार की गई । इसी आधार पर अनु. जाति, अनु. जन जाति एवं अन्य पिछड़ा वर्ग नामक प्रशासनिक शब्द प्रयुक्त हुए । जिनको सामाजिक अस्मिता बोध के रूप में दलित शब्द के अन्तर्गत समायोजित किया जा रहा है । चूंकि दलित शब्द जाति के वाचक के रूप में नहीं अपितु सामाजिक परिवर्तन और स्वतंत्रता समता और बधुत्व की विचारधारा के रूप में प्रयुक्त हुआ, अतः सामाजिक अस्मिता का वाचक है जिसके अन्तर्गत सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा समाज - जिसका विशद विवेचन आगे किया जाएगा । आएगा ।

हालांकि वर्तमान में अनुसूचित जातियों (जिसे हरिजन एवं अस्पृश्य कहा जाता रहा है) के बोध से ही 'दलित' को समायोजित किया जा रहा है, व्याख्यायित किया जा रहा है । लेकिन असल में जो अनु. जन - जातियां हैं उनकी सामाजिक राजनैतिक एवं आर्थिक हैसियत क्या है ? इसी प्रकार अत्यन्त पिछड़ा वर्ग (निम्नलिखित वर्गीय जातियां) जिसमें गड़ेरी, (पाल), बिंद, मल्लाह, निषाद, राजभर, बैठा (पनहेरी) बरई आदि जातियों का सामाजिक स्तर कैसा है ? ये तमाम जातियां जो कि अस्पृश्य नहीं हैं, भी दलित बोध के अंतर्गत सामाजिक अस्मिता और सामाजिक परिवर्तन के संघर्ष में सहभागिता निभा रही हैं -उ0 प्र0 की राजनीतिक जागरूकता इसकी मिसाल है ।

सामाजिक आत्म-मंथन और ऐतिहासिक अनुभव की सच्चाई से इन शब्दों का गहरा संबंध है । " हरिजन, दलित और अनु० जाति ये तीनों शब्द एक कड़वे ऐतिहासिक अनुभव की तीन अलग - अलग व्याख्याओं के वाहक हैं, जो उस अनुभव के प्रति प्रयोक्ता के दृष्टिकोण को भी बताते हैं ।"

" ये तीनों शब्द अलग-अलग दृष्टियों का बोध कराते हैं । "हरिजन" जाति व्यवस्था में निहित ऐतिहासिक अन्याय की चेतना को सवर्ण दृष्टि कोण से व्यक्त करने वाला शब्द है । इसमें एक प्रकार का पश्चाताप का भाव है । जो अब तक शोषित उपेक्षित रहे, जन्म से ही अपवित्र रहे, उन्हें "हरिजन" कहने का अर्थ यह नहीं कि अन्य लोग हरि के जन नहीं हैं । .....। " हरिजन" शब्द एक सांस्कृतिक शब्द है, जो हिंदू समाज के संवेदनशील सवर्णों कर्त्तव्य-बोध को व्यक्त करता है । दूसरी ओर दलित भी एक सांस्कृतिक-शब्द है, जो करूणा या पश्चातापको नहीं बल्कि बेवजह दमन और अपमान का शिकार होने के स्वाभाविक रोष को व्यक्त करता है । यह शब्द सवर्ण हिंदू के कर्त्तव्य बोध की जगह अवर्ण, शूद्र के प्रखर आत्म-बोध को व्यक्त करता है । "हरिजन" कहने वाली दृष्टि मानती है कि मुख्य कर्त्तव्य सवर्णों का है कि वे हरिजन का उनकी दयनीय दशा से उद्धार करें । "दलित" कहने वाली दृष्टि मानती है कि मुख्य कर्त्तव्य स्वयं दलितों का है कि वे इस सनातन अन्याय का प्रतिकार करें । .....। इसके ठीक विपरीत दृष्टि अनुसूचित जाति शब्द में व्यक्त होता है । यह गौरतलब है कि जहां 'हरिजन' और 'दलित' दोनों ही शब्द हिन्दू

समाज के भीतर से उपजे हैं, अनु. जाति" अंग्रेज प्रशासकों की देन है । 'हरिजन' और "दलित" दोनों में ही आत्म मंथन से उत्पन्न ऊष्मा है, तो अनु. जाति में दोनों पक्षों से उभर होने का दावा करने वाली तटस्थता का ठण्डापन ।"[30]

"हरिजन" और "दलित" दोनों शब्द जाति-व्यवस्था में निहित अन्याय को सांस्कृतिक चुनौती के रूप में जरूर दर्शाते हैं लेकिन दोनों में समरूपता नहीं है । तथाकथित "हरिजन" द्वारा ही "हरिजन" शब्द का विरोध क्यों हो रहा है ? बहस का मुद्दा यह है । 'हरिजन" शब्द की ऐतिहासिकता पर दृष्टि डालें । 13 वीं शताब्दी में गुजराती कवि नरसी मेहता के यहां सर्व प्रथम हरिजन शब्द का प्रयोग मिलता है । इस शब्द का प्रयोग देवदासियों की संतानों की पहचान के रूप में प्रचलन में आया । देवदासी प्रथा के अन्तर्गत मंदिरों में जो स्त्रियाँ देवदासी बनाई जाती थीं, वे अविवाहित होती थीं, किसी भी पुरूष से वे विवाह नहीं कर सकती थीं । उन देवदासियों का बकायदा मूर्तियों §ईश्वर§ से पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न कराया जाता था ईश्वर ही उनका मालिक है, पति है ऐसा विधान था, जिसे वे आजीवन निभाती थीं । लेकिन देवदासियों से जो बच्चे पैदा हुए उन बच्चों को "बास्टर्ड" §हरामी§ की पहचान मिली । तब उनकी सामाजिक स्वीकृति के लिए "हरिजन" शब्द प्रयुक्त हुआ ।"[31]

तुलसीदास के यहां रामभक्त के रूप में "हरिजन" शब्द प्रयुक्त हुआ है -

हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी ।
सजल नयन पुलकावलि बाढ़ी ।।

(मानस/सुंदर कांड- 13-1)

इस प्रकार हरिजन शब्द की ऐतिहासिकता के आधार पर इस शब्द विरोध के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं -

(1) इस शब्द में दया का भाव निहित है ।

( ) 'रामी' की पहचान से जुड़ा होना ।

( ) राम से जुड़ा होना, जिसने तपस्या की जुर्रत करने वाले शम्बूक की हत्या की ।

( ) सिर्फ तथाकथित हरिजन ही हरिजन क्यों - यदि वे हरि के जन हैं और सर्वाधिक प्रिय हैं तो शेष क्यों नहीं ?

( ) नामकरण करने वाले (सवर्ण हिंदू) स्वयं को "हरिजन" क्यों नहीं कहते - अर्थात कहीं न कहीं हरिजन शब्द में हीनता का बोध निहित है ।

1991 में उ0 प्र0 और मध्य प्रदेश सरकारों द्वारा और बाद में केन्द्र सरकार (चंद्रशेखर सरकार) द्वारा "हरिजन" शब्द को प्रशासनिक तथा सामाजिक व्यवहारिक स्तर पर प्रयोग न करने का फैसला लिया गया । इस फैसले का तर्क यह था कि "हरिजन" शब्द स्वयं उनलोगों को पसंद नहीं, जिनके लिए इसका इस्तेमाल किया जाता है वे स्वयं को दलित कहलाना पसंद करते हैं । लेकिन इन सरकारों ने यह विहित किया कि हरिजन" के स्थान पर अब सिर्फ अनु0 जाति शब्द प्रयुक्त किया जाएगा ।

अब सवाल यह है कि हरिजन शब्द का विरोध करने वाले स्वयं को दलित कहलाना पसंद करते हैं तो फिर तत्कालीन दो प्रांतों में सत्ता में हिन्दुत्व प्रेमी सरकारों ने हरिजन के स्थान पर दलित शब्द प्रयोग को प्रोत्साहन क्यों नहीं दिया । क्यों ठेठ प्रशासनिक शब्द अनुसूचित जाति को विहित किया । क्यों कि यदि हरिजन की जगह दलित को लाते तो उन्हें मानना पड़ता कि तथाकथित परम हिन्दू समाज में स्वयं इसके बहुसंख्य सदस्य हजारों वर्षों से दलित रहे हैं - जुल्म और दमन के शिकार रहे हैं । अत: जाति व्यवस्था की प्रताड़ना की समस्या को ठंडा करने के लिए एस.सी. शब्द को विहित किया गया । इन सरकारों एवं इस तरह की विचारधाराओं से जुड़े लोगों की कोशिश यही रही है कि जाति-भेद की समस्या के सांस्कृतिक, सामाजिक सत्ता से जुड़े पहलू को भूलकर इसे केवल प्रशासनिक समस्या मान लिया जाय ।

" दलित" शब्द की व्यापक दृष्टि, उसका अर्थ और प्रयोग सर्वप्रथम महाराष्ट्र में शुरू हुआ । एलिनॉर ज़िलियट" द्वारा अंग्रेजी में लिखित एक लेख से दलित शब्द प्रयोग की पृष्ठभूमि और महत्व को समझा जा सकता है । उस लेख के कुछ अंश का हिन्दी रूपांतर इस प्रकार है - 1970 के शुरूआती दौर में दो मराठी आंदोलनों ने अंग्रेजी प्रेस द्वारा नोटिस लेने योग्य पर्याप्त महत्ता प्राप्त की - ये हैं दलित पैंथर्स और दलित लिट्रेचर । ब्लैक {अश्वेत} का स्थानापन्न शब्द दलित के रूप में समझते हुए पाठक तत्काल समझ सकता है कि यह विशेषता

अमेरिकन ब्लैक पैंथर्स और "ब्लैक लिट्रेचर" से तुलनीय है, जिसने पश्चिमी भारत की निचली जातियों के सामाजिक और साहित्यिक गति-विधियों के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की । "दलित पैथर्स" और दलित स्कूल ऑफ लिट्रेचर गर्व, आक्रोश और परिष्कृत रचनात्मकता का नया स्तर प्रस्तुत करता है । मराठी शब्द "दलित" ब्लैक शब्द के समान इस वर्ग द्वारा स्वयं चुना गया है और इसका प्रयोग गर्व के साथ किया जाता है और यहां तक कि अंग्रेजी प्रेस को भी इस अपरिचित मराठी शब्द का प्रयोग करना पड़ा । दूसरे सामान्य शब्द अस्पृश्य, अनुसूचित जाति, डिप्रेस्ड क्लासेज और गांधी जी का मोहक शब्द "हरिजन" इस तरह का अर्थ संकेत नहीं देते । दलित उस अर्थ में है जिसमें वह तबका जो ऊँचे लोगों द्वारा विखण्डित हुआ है और सक्रिय एवं जानबूझकर उसे नीचा दिखाया जाता रहा है । यह शब्द न्यायोचित ठहराये गए जाति पदानुक्रम और 'कर्म' जैसे प्रदूषणों का आंतरिक इंकार भाव लिए हुए है ।"[32]

अमेरिका में अश्वेत §ब्लैक§ लोगों को श्वेत §गोरे§ 'निग्रो' कह कर पुकारते थें अर्थात् उनकी पहचान के लिए 'निग्रो' नाम दिया गया था । इससे ब्लैक लोगों ने महसूस किया कि हमें "इन्फीरियर" समझा जाता है और वे अपने को 'सुपीरियर" समझते हैं । अत: ब्लैक लोगों ने 'निग्रो' शब्द को नकारना शुरू कर दिया। अमेरिकन ब्लैक पैंथर्स नामक मूवमेंट शुरू हो गया, जो उनकी अस्मिता का बोध कराया तथा ब्लैक लिट्रेचर के रूप में अपनी सार्थकता और हैसियत का बोध कराया । ब्लैक इज ब्यूटिफुल की प्रतिस्थापना हुई । इसी तरह

"दलित" इज डिग्नीफाइड'को प्रस्थापित किया जा रहा है ।

मराठी शब्दकोशों में भी दलित शब्द का अर्थ 'विनष्ट किया हुआ' मिलता है - जैसे -

1. दल - नाश करणे §विनष्ट करना §
2. दलित - नाश पावलेला§ विनष्ट हुआ §
3. दीन-दलित- विनष्ट किया हुआ ।"[33]

दलित पत्रिका अस्मितादर्श के संपादक डा० गंगाधर पानतावणे कहते हैं कि दलित आंदोलन के प्रेरक और प्रवर्तक डा० अम्बेडकर हैं । हम तो बस उनके नक्शेक़दम पर चलने वाले अनुयायी हैं । 'दलित' शब्द को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि "दलित' क्या है ? 'दलित' कोई जाति नहीं बल्कि परिवर्तन और क्रांति का प्रतीक है । दलित मानवतावाद में विश्वास करता है । परंतु वह ईश्वर के अस्तित्व, पुनर्जन्म, आत्मा तथा उन तथाकथित धार्मिक ग्रंथों को अस्वीकार करता है जो भेदभाव की शिक्षा देते हैं । वह भाग्य तथा स्वर्ग की अवधारणाओं को भी अस्वीकार करता है, क्योंकि ये ही विचार उसको दासत्व का बोध कराते रहे हैं । वह इस देश में दबाए सताए हुए समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जो वर्षों से जानवर से भी बदतर ज़िंदगी जीने को अभिशप्त हैं । वह विरोध करता है एक बहुत ही सूझ-बूझ के साथ विकसित की गई हिंदू सामाजिक-व्यवस्था का, जिसने कि मानव के रूप में उसके अस्तित्व को कभी स्वीकार ही नहीं किया तथा मानवीय गरिमा का निरन्तर निरादर किया गया । जिसके मृत-प्राय शरीर को

पीड़ा और वेदना का संत्रास झेलना पड़ा । यही अलगाववाद का बोध उन हजारों हजार दलितों के पुनर्जागरण का अक्षय स्रोत है ।[34]

इस प्रकार 'दलित' जाति को महत्व न देकर मनुष्य की पतितावस्था, दुरावस्था तथा उसकी लाचारी और शोषण को संदर्भित करता है । सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से जिसका शोषण होता है, स्वतंत्रता समता और प्रगति से अपरिचित रहकर जो अपने मालिक की प्रामाणिक दासता निभाता है और जिसके जीवन में अज्ञान या अंधेरा ही अंधेरा छाया रहता है, ऐसा व्यक्ति दलित है । दलित इसी व्यापक अर्थ में शूद्रों-अतिशूद्रों से विकसित एवं संवर्द्धित जातियों का जीवन एवं समस्या का अध्ययन ही शोध-प्रबंध का विषय होगा । जिनका सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक शोषण आज भी जारी है ।

"दलित शब्द दबाए गए शोषित पीड़ित प्रताड़ित के अर्थों के साथ जब साहित्य से जुड़ता है तो विरोध और नकार की ओर संकेत करता है । वह नकार या विरोध चाहे व्यवस्था का हो, सामाजिक विसंगतियों या धार्मिक रूढ़ियों, आर्थिक विषमताओं का हो या भाषा प्रांत के अलगाव का हो या साहित्यिक परंपराओं मानदंडों या सौंदर्य शास्त्र का हो दलित साहित्य नकार का साहित्य है, जो संघर्षों से उपजा है, जिस में समता, स्वतंत्रता और बंधुता का भाव है और वर्ण व्यवस्था से उपजे जाति भेद का विरोध है ।"[35]

दलित साहित्य संबंधी विमर्श को आगे बढ़ाने से पूर्व 'दलित' शब्द के विरोध की चर्चा भी अपेक्षित है । 'दलित' शब्द हिंदी साहित्य जगत में सहज रूप से स्वीकार्य नहीं हो पाया है । आज भी विद्वज्जनों के मध्य मतभेद है । 'दलित' शब्द के स्थान पर "शोषित" शब्द के प्रयोग पर बल दिया जाता है ।

"शोषित शब्द विशेषतौर से मार्क्सवाद और समाजवाद की विचारधारा द्वारा शोषण से मुक्ति के रूप में प्रयोग में आया जान पड़ता है । क्योंकि 'शोषित' शब्द के पीछे जो तर्क दिया जाता है वह जाति पर नहीं, बल्कि वर्ग और वर्ग-संघर्ष पर आधारित है । उक्त दृष्टि आर्थिक शोषण की मुक्ति के द्वारा सामाजिक समस्या को हल करना चाहती है । कम से कम भारत की हिंदू वर्ण-व्यवस्था में निहित जाति-व्यवस्था पर चोट किये बिना मात्र आर्थिक शोषण से मुक्ति पा जाने से समस्या का समाधान नहीं हो सकता । क्योंकि "हिन्दू समाज की जाति व्यवस्था जन्म जन्मांतर तक चलने वाले कर्मफल पर आधारित ऐसी व्यवस्था है, जिसमें किसी की सामाजिक स्थिति या उसका सवर्ण का अछूत होना मां के पेट से ही तय हो जाता है । जन्म लेने से पहले ही यह निर्धारित हो जाता है कि जीवन भर आपको चरण स्पर्श का सुख मिलेगा या अस्पृश्य होने की यंत्रणा ।"[36] अत: "वर्णाश्रम के वैचारिक सामाजिक ढांचे की विशिष्टताओं पर ध्यान दिए बगैर भारतीय समाज में वर्ग-संघर्ष की बातें करने का उपक्रम अंतत: एक सुविधापूर्ण, पलायन जीवी, कल्पनालोक रचने का उपक्रम बनकर रह जाता है ।"[37]

ब्राहमण और चमार के फ़र्क़ को वर्ग के आधार पर नहीं अपितु जाति के आधार पर समझा जाता है । एक ब्राहमण ग़रीब, कंगाल, मूर्ख, भिखमंगा हो तो भी वह सामाजिक संरचना में श्रेष्ठ है, श्रद्धेय है, पूज्य है; और दूसरी तरफ चमार, भंगी, दुसाध, डोम, खटिक आदि ग़रीब न भी हों तब भी वह अपवित्र हैं, अछूत हैं, अंत्यज हैं, पंचमा, चांडाल और 'हरिजन' हैं । पूर्व उपप्रधान मंत्री बाबू जगजीवन राम की सामाजिक हैसियत 80 के दशक में बता दी गई थी, जिसका ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ । 29 जून '95' तमिलनाडु के एक गांव की घटना कक्षा - एक की एक दलित छात्रा को स्कूल में प्यास लगी उसने स्कूल में रखा पात्र और पीने के पानी से प्यास तो बुझा ली., लेकिन परिणामक्या हुआ?- स्कूल मास्टर {ब्राहमण जाति का } ने पात्र और पानी को अपवित्र हो गया मान कर गुस्से मे उस नन्ही बच्ची की आंख ही फोड़ डाली । उत्पीड़न और यंत्रणा का सिलसिला पिपरा से लेकर बेलछी आगरा, नारायणपुर, जहानाबाद, कुंभेर हो या परभानी आज भी नरसंहार, बलत्कार, आगजनी, लूटपाट, नंगा करके घुमाया जाना, हत्या जारी है । पूरे देश के सिर्फ़ एक महीने की घटनाओं का ब्यौरा प्रस्तुत किया जाए तो शोध-प्रबंध में भी जगह कम पड़ जाएगी ।

जो लोग मज़दूर वर्ग को संगठित करके क्रांति की बात करते हैं, उन्हें इस बात का ध्यान होना चाहिए कि जो 1936 में इंडीपेंडेंट लेबर पार्टी बनी थी और समूचे श्रमिक वर्ग की बात करती थी, वो असफल क्यों हो गई इसलिए कि जो सवर्ण मज़दूर थे, वे अछूत के रूप

में पहचाने जाने वाले नेताओं के नेतृत्व को मानने को तैयार नहीं थे ।"[39] आज भी उस तबक़े का नेतृत्व सहज स्वीकार्य नहीं है ।

यह अकारण नहीं है कि हिन्दी साहित्य मे भी प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद जाति की मूल समस्या साहित्य से कटती चली गई तथा प्रेमचंद के बाद दलित वेदना की सशक्त अभिव्यक्ति साहित्य से नदारद होती चली गई ।" डा० पुरूषोत्तम अग्रवाल के शब्दों में, "इस विशाल हिंदी-प्रदेश में अछूतों का अनुपात क्या है ? और हिन्दी साहित्य में उनकी उपस्थिति का अनुपात क्या है ? 1914 में हीरा डोम के बाद 1994 में ओम प्रकाश बाल्मीकि । करोड़ों की संख्या दशकों का अरसा और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में उस संख्या का ऐसा सफाया । ठीक ही है । जाति का तो ज़िक्र तक पाप है और वर्ग-चेतना की पुण्य सलिला तो विशाल हिन्दी-क्षेत्र में अनादिकाल से प्रवाहित है ही । वर्ग के अमूर्त कीर्तन का सबसे बड़ा फायदा यही है कि पूरे नैतिक संतोष (बल्कि दंभ) के साथ सांस्कृतिक वर्चस्व के मूर्त विधान-वर्णाश्रम को एजेण्डा से गायब किया जा सकता है । इसकी शिकार अस्मिताओं-शूद्र, आदिवासी स्त्री की चीत्कारों तक का स्मृति लोप कर देने के लिए रूपक की रणनीति का आविष्कार हो ही चुका है ।"[40]

दूसरी तरफ़ समाजवादियों ने जाति के सवाल को मात्र सामाजिक मानते हुए राजनीतिक एजेंडा से दूर रखा, लेकिन आज पीड़ा, दमन और शोषण से व्यथित समाज अपनी समस्याओं को राजनीतिक एजेंडे पर ला

दिया है । जिससे भारतीय राजनीति में भूचाल आ गया है । आज भारतीय समाज संक्रमण के दौर से गुज़ररहा है, सामाजिक परिवर्तन का बिगुल बज चुका है ।

टूटते वर्चस्व को बचाने के लिए बड़ी गहरी सांस्कृतिक रणनीति तैयार की जाती है । यह रणनीति सबसे अधिक बनती है और सफल होती है भाषा के गठन और प्रयोग में। कड़वे तथ्य और तीखे ऐतिहासिक सच की अभिव्यक्ति "दलित" शब्द ही कर सकता है §और कर भी रहा है § लेकिन देखा ये जाना चाहिए कि उस शब्द के साथ उसका प्रयोग करने वाला व्यक्ति उसे क्याअर्थ देना चाहता है । दलित शब्द का प्रयोग जब उसे निष्क्रिय करने की नियति से होता है तो उसमें एक प्रकार की सारभौमिकता भर दी जाती है और दलित का आशय "शोषित" वंचित, उत्पीड़ित से लगाया जाता है । इसमें वह सच्चाई दब जाती है जो सामाजिक अस्मिताओं के धरातल पर मौजूद है । ठोस ऐतिहासिक संदर्भों में और उचित प्रसंगों में दलित शब्द उन सभी शब्दों का अर्थ वहन करता है जिन्हें शूद्र, अतिशूद्र, अस्पृश्य, पंचम, अंत्यज, चाण्डाल, हरिजन जैसे शब्द सूचित करते हैं । एक सामान्यीकृत धरातल पर दलित वे सभी लोग हैं जो आर्थिक अथवा सांस्कृतिक रूप से सताए गए हों । लेकिन सही मायने में §और यही सही मायना मोहक अर्थ-गौरव और आकर्षक प्रतीकत्व से मुक्त है § इस शब्द का आशय स्थानीय और जातीय वास्तविकताओं से जुड़ता है, बनता है । खुद वे लोग जो दलित हैं जब अपने लिए शब्द चुनकर उसका प्रयोग करते हैं और

नृशंसताओं तथा दमन की समूची परम्परा से इसको संपृक्त करते हैं तब यह शब्द अमूर्त दार्शनिक चिंतन करनेवाले लोगों के प्रयोग से अलग हो जाता है ।

अंतत: सवाल यह भी पूछा जा सकता है कि दलित साहित्य क्या है ? प्रेमचंद साहित्य दलित साहित्य की कोटि में आएगा ?

इस प्रश्न के उत्तर में विद्वज्जनों - साहित्यकारों में मतैक्य नहीं है इनके दो वर्ग हैं - पहले वर्ग का मानना है कि जो दलितों द्वारा लिखित साहित्य है, सिर्फ़ वही दलित साहित्य की कोटि में आएगा क्योंकि उनका साहित्य आत्मानुभूति का साहित्य है, जो सच्चे अर्थों में दलित पीड़ा और शोषण को प्रखर आत्मबोध के साथ अभिव्यक्त करता है । दूसरे वर्ग का मानना है कि अदलितों द्वारा लिखित साहित्य में यदि दलित वेदना, दर्द एवं शोषण की मूल समस्याओं को उकेरा गया हो तो उसे भी दलित साहित्य की कोटि में रखा जाना चाहिए ।

सवाल सहानुभूति के साहित्य और आत्मानुभूति के साहित्य में फ़र्क करने का है । जरूरी नहीं कि सहानुभूति का सारा साहित्य अप्रामाणिक ही हो । प्रेमचंद इसी का प्रमाण हैं । लेकिन आत्मानुभूति का साहित्य भाषा, साहित्य और संस्कृति के जनवादीकरण की पहली शर्त है ।

दरअसल असली सवाल सामाजिक अस्मिता का है । साहित्य समाज और राजनीति के हाशिए पर जिसको फेंक दिया गया था, वह

स्वयं ही अपनी पहचान बना रहा है, अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है - भोगे हुए यथार्थ को खुद की कलम से । हीरा डोम से लम्बे अंतराल के बाद ओमप्रकाश बाल्मीकि और डॉ॰ धर्मवीर से होते हुए हिन्दी में भी दलित साहित्यकारों की एक पीढ़ी शुरू हो चुकी है । यहाँ हीरा डोम से संबंधित दो सवाल उभरते हैं -

1॰ हीरा डोम की कोई अविच्छिन्न परंपरा क्यों नहीं शुरू हो पाई ?

2॰ हीरा डोम की कविता जो कि सरस्वती जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका में प्रकाशित हुई थी - नेपथ्य में क्यों फेंक दी गई ?

"दलित की कथा, दुःख, पीड़ा, शोषण का विवरण देना या बखान करना ही दलित चेतना नहीं है, या दलित पीड़ा का भावुक और अश्रु विगलित वर्णन जो मौलिक चेतना से विहीन हो । चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से होता है । जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका की छवि के तिलिस्म को तोड़ता है - वह है दलित चेतना । यह दलित मतलब मानवीय अधिकारों से वंचित । सामाजिक तौर पर जिसे नकारा गया हो ।"[4]

इन्हीं अर्थों में प्रेमचंद साहित्य दलित चेतना का संवाहक बनता है । "सद्गति","ठाकुर का कुआं","सवा सेर गेहूँ", "दूध का दाम" आदि कहानियों के साथ-साथ गोदान उपन्यास में "सिलिया - माता - दीन" प्रकरण दलित चेतना, और अस्मिता की सशक्त अभिव्यक्ति है ।

अत: अब प्रश्न दलित और अदलित द्वारा लिखित साहित्य का नहीं, वरन्, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक व्यवस्था के प्रति क्षोभ और असंतोष की अभिव्यक्ति जिस साहित्य में है, उसे दलित साहित्य की कोटि में रखा जाना चाहिए । अर्थात् भारतीय समाज की जाति व्यवस्था और 'अस्पृश्यता' के भीषण स्वरूप और यहां की शोषण-व्यवस्था को पहचानकर उसके विरोध की कठोर प्रतिक्रिया ही दलित साहित्य है । [42]

.....

संदर्भ सूची -

1. नारायण सुर्वे - दलित साहित्य और, बाबा साहब डा० अम्बेडकर §लेख§ अनुवाद अरुंधती देवस्थले- हंस/ अक्टू. 1992/ पृ. सं. 22
2. शरण कुमार लिंबाले - §हमें दया नहीं अधिकार चाहिए§ साक्षात्कार ओम प्रकाश बाल्मीकि द्वारा, हंस, दिस. 95/ पृ. सं. 33
3. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर/ सं. रामचन्द्र वर्मा एवं कोश संस्थान / सप्तम संस्करण
4. राम शरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, 1992, राजकमल - प्रकाशन, पृ. सं. 108
5. कौटिल्य का अर्थशास्त्र- सं. आर. श्याम शास्त्री, द्वितीय संस्करण मैसूर 1924, II- 1
6. वही 10-10
7. डा. जयशंकर मिश्र - प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, चतुर्थ संस्करण, 86, राजकमल प्रकाशन, पृ. सं. 103- सेउद्धृत
8. डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल, वर्णाश्रम और मानवाधिकार §लेख§ संकलित "तीसरा रूख" , पृ. सं. 66 ।०
9. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण- रामविलास शर्मा प्रथम संस्करण, पृ. सं. 357-358
10. चंद्रकांत बांदिवडेकर - "दलित साहित्य धारा" §लेख§ संकलन- समकालीन सृजन, जातिवाद और रंगभेद, वाणी प्रकाशन, नईदिल्ली 1990, पृ. सं. 153

11. डा. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड.मय, खण्ड3, कल्याण मंत्रालय भारत - सरकार नई दिल्ली, 1995, पृ.सं.41-42

12. वही, पृ.सं. 42-43

13. वही, पृ.सं. 49

14. डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाड.मय -खण्ड 1, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली/ 1993, पृ.सं.56-57

15. वही, पृ.सं. 57

16. बहुजन संगठक §हिंदी साप्ताहिक§ जून, 17, 96

17. डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाड.मय खण्ड 9, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली, 1995, पृ.सं.49

18. डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाड.मय, खण्ड-5, 1994, पृ.सं.18-19

19. डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल, जातिवादी कौन §लेख§ संकलित-संस्कृति, वर्चस्व और प्रतिरोध §आलोचना§ प्र. संस्करण, राधाकृष्ण प्रकाशन95 पृ.सं.99

20. डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाड.मय, खण्ड-5, क. मंत्रालय, न. दिल्ली, पृ. 15

21. भारत की सामाजिक संस्थाएं, 108 उद्धृत, कांतिमोहन-प्रेमचंद और अछूत समस्या, प्रथम संस्करण, जन सुलभ साहित्य, दिल्ली।982. पृ.87

22. महात्मा गांधी:डा. अम्बेडकर्स इन्डिक्टमेंट: "हरिजन" जुलाई।936, उद्धृत जाटव, डी.आर - अम्बेडकर के आलोचक, पृ.9

23. वही, हरिजन, अगस्त 15, पृ.9

24. डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाड.मय§जाति प्रथा उन्मूलन§ डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ.116

25. यंग इंडिया, नवम्बर 12, 1927, हरिजन* , सित. 1934, अंकद्रष्टव्य उद्धृत डी. आर्. जाटव, अंबेडकर के आलोचक, पृ.सं. 10

26. यंग इंडिया, अक्टू. 20, 1927, उद्धृत वही, पृ. 11

27. वही. नव. 24, 1927: हरिजन मार्च4, 1933, द्र. उद्धृत वहीपृ. 11

28. शेडयूल्ड कास्ट्स- ए च्यू फ्राम विलो. यशोधरा डालमिया (लेख) टाइम्स ऑफ इंडिया में प्रकाशित दि. 15, 1974-उद्धृत-डी. आर् जाटव अंबेडकर के आलोचक, पृ.सं. 12-13, समता साहित्य सदन कानपुर, द्वितीय संस्करण 1989

29. डा. अम्बेडकर वाङ्.मय खण्ड 9, पृ.सं. 21-22

30. डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल-हरिजन दलित या अनुसूचित जाति (लेख) न.भा.टा. सित. 19, 1991 3~

31. एन.डी. काम्बले-डे प्राइब्ड क्लास एण्ड देयर स्ट्रगल फॉर इक्वालिटी आशीष पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1983, पृ.सं. 145

32. एलिनॉर ज़िलियट-'फ्रॉम अनटचेबल टु दलित' में संकलित लेख दलित..... न्यू कल्चरल कान्टेक्स्ट फॉर ऐन ओल्ड मराठी वर्ड, मनोहर पब्लिकेशन नई दिल्ली, 1992, पृ.सं. 267

33. व्युत्पत्ति कोश, सं. आपटे व्ही.एस., उद्धृत डा. आनंद वास्कर हिंदी साहित्य में दलित चेतना, प्रथम संस्करण, विधा विहार कानपुर 1986, पृ.सं. 17

34. उद्धृत- अनटचेबल्स ! वॉयसेज आफ द दलित लिबरेशन मूवमेंट, नई - दिल्ली, 1986, एडि, बरबरा आर. जोशी, पृ.सं. 79

35. ओम प्रकाश बाल्मीकि §अध्यक्षीय भाषण§ अंगुत्तर अक्टू.नवं. - दिसम्बर 1993, अंक एक §हिंदी दलित लेखक-साहित्य सम्मेलन अंक§ नागपुर, पृ.सं. 14

36. डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल हरिजन, दलित या अनुसूचित जाति §लेख§ न.भारत टा., सित. 19, 1991

37. डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल -तीसरा रूख " पृ. 98, 'हिंदी प्रदेश का वैचारिक संकट या बंदर की बला तबेले के सिर §लेख§ से

38. डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल-हरिजन, दलित या अनुसूचित जाति, न.भा.टा. सित. 13, 1991

39. एलिनॉर जिलियट- फ्रॉम अनटचेबल टु दलित , मनोहरपब्लिकेशन नई दिल्ली, '92' पृ.सं. 107

40. डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल-"हाय इतिहास/वाह दर्शन '§आलोचना लेख§ तीसरा रूख" §आलोचना§ प्र.सं., वाणी प्रकाशन, न. दिल्ली. 96, पृ. 77-78

41. ओम प्रकाश बाल्मीकि - §सम्मेलनाध्यक्ष का भाषण§ संकलित अंगुत्तर अक्टू.नवं, दिसं. -1993, अंक एक, नागपुर, पृ.सं. 15

42. विमल थोरात- मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिंदी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना, प्र.संस्करण, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, 1996, पृ.सं. 56

दूसरा अध्याय

प्रेमचंदयुगीन राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति

राष्ट्रवाद तथा लोकतंत्र की वह उठती लहर जिसने स्वतंत्रता के संघर्ष को जन्म दिया था उन आंदोलनों के रूप में भी सामने आई, जिनका उद्देश्य सामाजिक संस्थाओं तथा भारतीय जनता के धार्मिक दृष्टिकोण का सुधार करना और उनका लोकतंत्रीकरण करना था । अनेक भारतीयों ने यह अनुभव किया कि सामाजिक और धार्मिक सुधार आधुनिक ढंग से देश का चौतरफा विकास करने तथा राष्ट्रीय एकता और एक जुटता को विकसित करने के लिए आवश्यक है । राष्ट्रवादी भावनाओं का विकास, नई आर्थिक शक्तियों का उदय, शिक्षा का प्रसार, आधुनिक पश्चिमी विचारों तथा संस्कृति का प्रभाव तथा दुनिया के बारे में पहले से अधिक जानकारी इन सभी बातों ने भारतीय समाज के पिछड़ेपन तथा पतन के बारे में लोगों की चेतना को बढ़ाया ही नहीं बल्कि सुधार के संकल्प को और मज़बूत किया ।[1]

भारतीय जनता की स्थिति विवेकानंद के शब्दों में — "चिथड़ों में लिपटे वृद्धों और युवकों के यहाँ-वहाँ भटकते कृशकाय ढाँचे जिनके चेहरों पर सैकड़ों वर्षों की निराशा तथा ग़रीबी ने गहरी झुर्रियां डाल रखी हैं, हर जगह पाए जाने वाले गाय, बैल तथा ऐसे

महलों के ठीक पड़ोस में चरमराती झोपड़ियां .....दया की भीख मांगती और बेचैन निगाहों से देखता हुआ एक भूख का मारा व्यक्ति- क्या हमारा अपना देश है ।[2]

एक तरफ विदेशी उपनिवेशवाद से मुक्ति-संघर्ष, प्रथम विश्वयुद्ध का शंखनाद तथा दूसरी तरफ आंतरिक उपनिवेशवाद के अंधेरे कुएं से निकलने की छटपटाहट की वेदना लिए "हीरा डोम" की शिकायत और सामाजिक पीड़ा की चीत्कार -

" हमनी के इनरा के निगिचे न जाइले जां,
पांके में से भरि-भरि पिअतानी पानी ।
पनही से पिटि पिटि हाथ गोड़ तुरि दैलें,
हमनी के एतनी काही केहल-कानी ?"[3]

और इसी दर्द और छटपटाहट की हक़ीक़त बयानी करता प्रेमचंद साहित्य -

गंगी झुकी कि छड़े को पकड़ कर जगत पर रखे कि
एकाएक ठाकुर साहब का दरवाजा खुल गया ।
शेर का मुंह इससे अधिक भयानक न होगा ।
.....
घर पहुंचकर देखा कि जोखू लोटा मुंह मे लगाकर वही
मैला गंदा पानी पी रहा है ।"[4]

.....हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊंचे हैं ? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते है ?

.....चोरी ये करें, जाल, फ़रेब ये करें, झूठे मुक़दमें ये करें ।
.....काम करा लेते है, मज़दूरी देते नानी मरती है । किस बात में हैं हमसे ऊँचे ? "[5]

"शंकर ने विप्र जी के यहां 20 वर्ष तक ग़ुलामी करने के बाद इस दुस्सार संसार से प्रस्थान किया । 120 रू0 अभी तक उसके सिर पर सवार थे । पंडित जी ने उस ग़रीब को ईश्वर के दरबार में कष्ट देना उचित न समझा, इतने अन्यायी, इतने निर्दयी न थे । उसके जवान बेटे की गर्दन पकड़ी । आज तक वह विप्र जी के यहां काम करता है । उसका उद्धार कब होगा, होगा भी या नही, ईश्वर जाने ।"[6]

.....वहां तो सब अपने ही भाई बंधु हैं । ऋषि मुनि सब तो ब्राहमण ही हैं, देवता ब्राहमण हैं, जो कुछ बने बिगड़ेगी, संभाल लेंगे ।"[7]

.....

"उधर दुखी की लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोंच रहे थे । यही जीवन पर्यंत की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था ।"[8]

आख़िरकार .....

" दो चमारों नें लपक कर मातादीन के हाथ पकड़ लिए तीसरे ने झपट-कर उसका जनेऊ तोड़ डाला और इसके पहले कि दातादीन और झिंगुरी सिंह अपनी-अपनी लाठी संभाल सकें, दो चमारों नें मातादीन के मुंह में एक बड़ी-सी हड्डी का टुकड़ा डाल दिया ।"[9]

शोषण और दमन के विभिन्न स्वरूप और फिर चेतना और प्रतिकार का दौर प्रेमचंद युगीन सामाजिक परिस्थिति का दस्तावेज़ है ।

गंगी, दुखी, जोखू, धनिया, सिलिया, गोबर, होरी आदि ये सारे नाम प्रेमचंद युगीन सामाजिक परिस्थितियों के खुले चिट्ठे है जो जुल्म और शोषण की एक लम्बी परम्परा को रेखांकित करते है ।

" हिन्दी प्रदेश का नवजागरण एक नई सामाजिक चेतना को भी लेकर सामने आता है । यह सामाजिक चेतना भी अपने आधार में मूलत: सामंत-विरोधी चेतना है । हिंदी प्रदेश की हिंदू मुसलमान जनता के धार्मिक रूढ़िवाद पर, नारी जाति की सामाजिक आर्थिक गुलामी पर, हिंदू-मुसलमानों में भेद करने वाली मानसिकता पर, हिन्दी-उर्दू के सवाल को धर्म के आधार पर निपटने वाली मनोवृत्ति पर, सस्ते प्रेम-रोमांस और ऐयाशी से भरे महफ़िली साहित्य पर, सवर्ण और असवर्ण के भेद को सामने लाकर मनुष्यता के एक विशाल हिस्से को उसकी अस्मिता से वंचित करने वाले सामाजिक धार्मिक विधि-विधान पर, उसकी अमानवीयता पर वे अपनी इसी प्रखर सामंत-विरोधी मानव-वादी सामाजिक चेतना के तहत कठोर से कठोर प्रहार करते हैं तथा उसके लिए जिम्मेदार ताक़तों का बिना झिझक पर्दाफ़ाश भी करते हैं ।"[10]

अमृत राय ने "प्रेमचंद: क़लम का सिपाही" के परिशिष्ट-2 में प्रेमचंद की कहानियों का काल निर्देश किया है । उसके अनुसार हिंदी में प्रेमचंद की पहली कहानी "सौत" दिसम्बर 1915 में "सरस्वती" में प्रकाशित हुई । जून 1916 में इसी पत्रिका में प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी

पंचपरमेश्वर" प्रकाशित हुई । प्रमुख उपन्यास 1917 से 1936 के मध्य प्रेमचंद द्वारा सृजित किए गए । §उर्दू में बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में ही प्रेमचंद साहित्य प्रकाशित हो चुका था§

प्रेमचंद युगीन राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध की पूर्व - पीठिका तक किया जाएगा, जिसके अंतर्गत मुख्यत: दो बिंदुओं पर ध्यान केन्द्रित करना प्रासंगिक होगा -

प्रथम - भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और प्रथम विश्व युद्ध का भारत पर राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रभाव ।

द्वितीय- सामाजिक सुधार आंदोलन ।

1907 के सूरत अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विभाजन नरम दल और गरम दल के रूप में हुआ । 'बांटो और राज करो" की नीति के तहत अंग्रेजों ने गरमपंथी राष्ट्रवादियों का दमन तथा नरमपंथी राष्ट्रवादियों को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न किया । "नरमपंथी राष्ट्रवादियों को खुश करने के लिए अंग्रेजों ने 1909 के इंडियन कौंसिल एक्ट के रूप में सांविधानिक सुधारों की घोषणा की जिसे मार्ले-मिन्टो सुधार के रूप में जाना जाता है । "[11]

1911-12 में बंगाल का एकीकरण तथा राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली लाया जाना - राष्ट्रीय आंदोलन को नया आयाम

दिया । दूसरी तरफ़ मार्ले-मिन्टो सुधारों ने अलग-अलग चुनाव मंडलों की प्रणाली भी आरम्भ की । इसमें सभी मुसलमानों को मिलाकर उनके अलग चुनाव क्षेत्र बनाए गए और इन क्षेत्रों से केवल मुसलमान ही चुने जा सकते थे । इससे हिंदुओं और मुसलमानों के मध्य मतभेद गहरे हुए और सांप्रदायिकता का बीज अंकुरित हुआ ।

" इतिहास के प्रति हिंदू सांप्रदायिक दृष्टिकोण इस भ्रामक धारणा का भी सहारा लेता था कि भारतीय समाज और संस्कृति प्राचीनकाल में महानता और आदर्श की ऊंचाइयों पर विराजमान थी, पर मध्यकाल में 'मुस्लिम' शासन और प्रभुत्व के कारण उसका निरंतर पतन आरंभ हो गया । भारतीय अर्थव्यवस्था और तकनोलॉजी , धर्म और दर्शन, कला और साहित्य, संस्कृति और समाज, फलों, सब्जियों और वस्त्रों में मध्यकाल का जो भी बुनियादी योगदान था उसे नकारा जाने लगा ।"[12]

भारतीय राष्ट्रवाद के निर्माताओं ने इस बात को अच्छी तरह समझा कि एक राष्ट्र के रूप में भारतीयों को ढालना एक धीमा और कठिन काम है और इसके लिए जनता को लंबे समय तक राजनीतिक शिक्षा देनी होगी ।

लेकिन कुछ उग्र राष्ट्रवादियों के लेखन और भाषण धार्मिक और हिंदू रंगत मे रंगे हुए होते थे । उन्होंने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति को नकार कर प्राचीन भारतीय संस्कृति पर जोर दिया । उन्होंने

भारतीय संस्कृति और भारतीय राष्ट्र को हिंदू धर्म और हिंदुओं से जोड़ा उन्होंने समन्वित संस्कृति के तत्वों को छोड़ने के प्रयत्न किए । उदाहरण के लिए तिलक ने शिवाजी और गणपति उत्सवों का प्रचार किया, अरविंद घोष ने अर्द्धरहस्यवादी ढंग से भारत को माता और राष्ट्रवाद को धर्म बतलाया ।"[13]

उग्र राष्ट्रवादियों के राजनीतिक कार्यों और विचारों में हिंदू रंगत होने के कारण अंग्रेजों ने इसका लाभ उठाकर मुसलमानों के मन में ज़हर भरा । " इस हिंदू रंगत ने हिंदू संम्प्रदायवाद को भी वैचारिक सहारा दिया , और राष्ट्रवादी आंदोलन के लिए अपने बीच से हिंदू सांप्रदायिक राजनीति और विचारधारा के तत्वों का विनाश कर सकना कठिन हो गया । इससे मुस्लिम राष्ट्रवादियों पर एक मुस्लिम रंगत भी चढ़ी ।"[14]

1914 में पहला विश्व युद्ध शुरू हुआ । हाउस आफ कामंस में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने घोषणा की कि ब्रिटिश नीति का लक्ष्य है भारत में क्रमशः ज़िम्मेदार सरकार की स्थापना । युद्ध में भारतीय बुर्जुआजी से और अधिक मदद लेने के लिए सरकार ने 1916 में सूती वस्त्रों पर 3½ ٪ आयात शुल्क लगाया, जिससे भारत मे कपड़ा उद्योग के विकास को काफ़ी बल मिला ।"[15]

लेकिन इन सब कार्यों से बाम्बंधी राष्ट्रवादी तत्व संतुष्ट नहीं हुए और लड़ाई के दौरान स्वराज्य का अपनासंघर्ष चलाते रहे । 1914 में जेल से निकलने पर तिलक ने भारत में होमरूल के लिए आंदोलन शुरू

किए और 1916 में पूना में होमरूल लीग की स्थापना की । 6 महीने बाद एनीबेसेंट ने मद्रास में ऑल इंडिया होमरूल लीग की शुरूआत की । इन दो होमरूल लीगों ने आपसी सहयोग से पूरे देश में इस मांग को प्रचारित किया कि युद्ध के बाद भारत को होमरूल या स्वशासन दिया जाय ।

1916 के लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में नरम दल और गरम दल फिर से एक हो गए । लेकिन यह एकता कुछ ही दिन चली । 1918 में उदारवादियों ने कांग्रेस से संबंध-विच्छेद कर लिया और लिबरल फेडरेशन की स्थापना की । हाल ही में घोषित मॉटेग्यु चेम्सफोर्ड रिफार्मस के बारे में मतभेद के कारण ही यह फूट पड़ी थी । उदारवादी नये सुधारों के अनुसार विधान के कार्यान्वयन के पक्ष में थे, लेकिन 1918 के कांग्रेस अधिवेशन ने इन सुधारों के बहिष्कार का प्रस्ताव किया ।[16]

प्रथम विश्व युद्ध § 1914-1918§ के दौरान एक नई स्थिति जरूर विकसित हुई राष्ट्रवाद की ताक़त के रूप में । लेकिन बाद के वर्षों में आर्थिक स्थिति और बिगड़ी । पहले तो कीमतें बढ़ीं और फिर आर्थिक गतिविधियां मंदहोने लगीं । युद्ध के दौरान विदेशी आयात के रूक जाने के कारण भारतीय उद्योग फले-फूले थे, मगर अब उनको घाटे होने लगे और वे बंद होने लगे । इसके अलावा भारत में अब विदेशी पूंजी बड़े पैमाने पर लगाई जाने लगी । भारतीय उद्योगपति चाहते थे कि सरकार आयातों पर भारी कस्टम ड्यूटी लगाकर तथा मदद देकर उनके उद्योगों को सुरक्षा प्रदान करे । अब उन्हें भी महसूस होने लगा कि

कि केवल एक मज़बूत राष्ट्रवादी आंदोलन तथा एक स्वाधीन भारतीय सरकार के द्वारा ही ये लक्ष्य प्राप्त किए जा सकते हैं ।

" बेरोज़गारी तथा महंगाई की मार से पीड़ित मज़दूर तथा दस्तकार भी राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय हो उठे । .....बढ़ती ग़रीबी तथा भारी करों के बोझ से कराहते किसान भी नेतृत्व पाने की प्रतीक्षा कर रहे थे । नगरों के शिक्षित भारतीय भी बढ़ती बेरोज़गारी से त्रस्त थे । इस तरह भारतीय समाज के सभी वर्ग आर्थिक कठिनइयां महसूस कर रहे थे और इन कठिनाइयों को सूखा, मंहगाई और महामारियों ने और बढ़ा दिया था ।"[17] युद्ध और युद्ध के बाद भारतीय जनता में असंतोष फैला । युद्ध का वित्तीय भार, मूल्यों में वृद्धि, मुनाफ़ाख़ोरी आदि से जनसाधारण की आर्थिक तकलीफ़ें काफ़ी तेज़ी से बढ़ीं । रजनीपामदत्त "आज का भारत" में लिखते हैं कि -

" 1914 -18 के युद्ध के बाद ही यह स्पष्ट हुआ कि राष्ट्रीय आंदोलन किसानों और देश की नई शक्ति औद्योगिक मज़दूरों अर्थात् आम जनता की क्या भूमिका है ।"[18] स्थिति और स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि 1917 के बाद के वर्षों से ही भारत में राजनीतिक आंदोलन का रूपांतरण शुरू हुआ और जो आंदोलन समाज के इने गिने लोगों तक सीमित था वह आम जनता तक पहुंच गया ।"[19]

1915 में महात्मा गांधी का भारत आगमन अपने आप में ख़ुद ही एक आंदोलन था । महात्मा गांधी ने एक वर्ष तक देश भ्रमण करने के बाद 1917 में सत्याग्रह का अपना पहला प्रयोग बिहार के चम्पारन

जिले में किया । यहां नील के खेतों में काम करने वाले किसानों पर यूरोपीय निलहे बहुत अधिक अत्याचार करते थे । किसानों को अपनी जमीन के कम से कम 3/20 भाग पर नील की खेती करना तथा निलहों द्वारा तय दामों पर उन्हें बेचना पड़ता था ।"[20] महात्मा गांधी के हस्तक्षेप करने के बाद सरकार ने पिछला आदेश रद्द करके एक जांच समिति बिठाई जिसके एक सदस्य स्वयं गांधी जी भी थे । अंतत: किसानों को उक्त पीड़ा से राहत मिली ।

" 1918 के अंतिम दौर और 1919 के शुरू के महीनों में हड़तालों का एक ऐसा सिलसिला शुरू हो चुका था जैसा पहले भारत में कभी नहीं देखा गया था । दिसम्बर 1918 में बंबई की मिलों से हड़ताल शुरू हुई । जनवरी 1919 तक एक लाख पच्चीस हज़ार मज़दूरों ने हड़ताल में भाग लिया । 1919 के शुरू के दिनों में रौलट एक्ट पेश किया गया और मार्च के महीने में इसे लागू कर दिया गया ।"[21]

मार्च 1919 में सरकार ने केन्द्रीय विधान परिषद के एक-एक भारतीय सदस्य द्वारा विरोध के बावजूद रौलट एक्ट बनाया । इस कानून में सरकार को अधिकार था कि वह किसी भी भारतीय पर अदालत में मुक़दमा चलाए और दंड दिए बिना जेल में बंद कर सके । 6 अप्रैल 1919 को महात्मा गांधी ने रौलट एक्ट" के विरूद्ध हड़ताल का आहवान किया -" हड़ताल की इस अपील पर जनता ने जो उत्साह दिखाया उससे स्वयं वे लोग आश्चर्य में पड़ गये, जिन्होंने अपील की थी । मार्च और अप्रैल के महीनों में देश भर में बड़े-बड़े

जुलूस निकाले गए, हड़ताल हुई, जनता के असंतोष की अभिव्यक्ति हुई और कहीं कहीं पर जनता और पुलिस के बीच संघर्ष हुआ तथा सरकार द्वारा किए गए हिंसात्मक दमन का जनता ने बड़ी बहादुरी के साथ सामना किया । सरकारी दमन के फलस्वरूप अनेक लोग घायल भी हुए लेकिन उनका मनोबल नहीं टूटा ।"[22] इस प्रकार भारत में अभूतपूर्व राजनीतिक जागरण आया । लगभग पूरा देश एक नई शक्ति से भर उठा ।

13 अप्रैल 1919 को अमृतसर में जालियांवाला बाग की दुःखद घटना से लोगों में क्रोध और आतंक की एक लहर फैल गई । बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारी हुई और लोगों को कारावास और मृत्यु की सज़ा दी गई । कोड़े की मार की भी सज़ा दी जाने लगी और अमृतसर की एक ख़ास गली से जो लोग गुज़रते थे उन्हें पेट के बल चलने को बाध्य किया जाता था ।[18]

1919 में जनआंदोलन का तेज़ी से विकास हुआ । राजनीतिक आंदोलन, हड़ताल आदि बढ़ रहे थे । राष्ट्रीय आंदोलन को पहली बार जन आधार मिल रहा था और लोगों में राजनीतिक उद्वेग बढ़ रहा था ।

असहयोग आंदोलन से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नए दौर की शुरूआत होती है ।" गांधी ने संघर्ष का ऐसा कार्यक्रम बनाया जिससे जनसाधारण राष्ट्रीय आंदोलन के लिए जागरूक हो सके और मज़दूर, किसान, पूंजीपति, विद्यार्थी, वकील, दूसरे पेशेवर लोग, औरतें,

आदि सब तरह के लोग इस आंदोलन में भाग ले सकें । अपने विचार तंत्र की सीमाओं, ख़ामियों-कमज़ोरियों के बावजूद पहली बार गांधी ने ही राष्ट्रीय आंदोलन को जनसाधारण का बहुवर्गीय आधार प्रदान किया ।"[19]

सबसे उत्साहवर्द्धक दृश्य यह था कि हजारों-हजार की तादाद में औरतें, जो सदियों से संकीर्ण घरेलू जीवन की श्रृंखला में आबद्ध थीं और जिन्हें पारम्परिक पितृसत्ता ने गुलामों की तरह रखा था सड़कों पर आ निकलीं और उन्होंने अपने पुरूष साथी देश भक्तों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर ग़ैरक़ानूनी प्रदर्शनों में भाग लिया ।

कांग्रेस द्वारा चलाए गए असहयोग आंदोलन के अलावा दूसरे तरह के भी आंदोलन इस काल में हुए जैसे आसाम, बंगाल, रेलवे मज़दूरों की हड़ताल, मिदनापुर जिले के किसानों का टैक्स नहीं देने का आंदोलन, मालाबार का मोपला विद्रोह और पंजाब में महंतों के ख़िलाफ़ अकालियों का विद्रोह ।

5 फरवरी 1922 को चौरी-चौरा कांड हुआ। किसानों की एक भीड़ ने एक थाने पर हमला कर दिया और उसमें आग लगा दी जिससे 22 सिपाही मर गए । महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन या नागरिक अवज्ञा के कार्यक्रम को रोक देने का फ़ैसला दिया । उन्होंने 12 फरवरी को बारदोली में कार्यकारिणी समिति की सभा बुलाई और यह प्रस्ताव पारित हुआ कि चौरी-चौरा में भीड़ के अमानुषिक व्यवहार के कारण

नागरिक अवज्ञा का कार्यक्रम रोक दिया जा रहा है । प्रस्ताव में यह भी कहा गया "कार्यकारिणी समिति कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं को यह सलाह देती है कि वे किसानों को सूचित कर दें कि ज़मींदारों को मालगुज़ारी न देना कांग्रेस के प्रस्तावों के प्रतिकूल है और देश हित के लिए हानिकारक" ।[25] कुछ कांग्रेसी नेताओं को, जो जेल में थे, बारदोली का फैसला बेहद नापसंद आया ।

आंदोलन वापस ले लिए जाने के समय भारत की जो हालत थी उसके बारे मे वायसराय द्वारा सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को भेजे गए विवरण से पता चलता है - "शहरों के निम्नवर्गों पर असहयोग आंदोलन का बड़ा गहरा असर पड़ा । कुछ इलाकों में किसानों पर भी इसका असर पड़ा है ख़ासकर संयुक्त-प्रांत, बिहार और उड़ीसा, बंगाल और आसाम के कुछ हिस्सों में ।"[26]

इतिहासकार ए. आर. देसाई असहयोग आंदोलन के वापस लेने के परिणामों को उजागर करते हुए "भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि" में लिखते हैं - "औद्योगिक पूंजीपति ने लड़ाई के दिनों में औद्योगिक प्रसार के कारण काफ़ी आर्थिक ताक़त हासिल कर ली थी । उन लोगों ने प्राय: असहयोग आंदोलन का समर्थन किया । इसके बाद औद्योगिक बुर्जुआजी ने कांग्रेस द्वारा संचालित राष्ट्रीय आंदोलन की नीतियों और कार्यक्रमों पर पर्याप्त निर्णायक प्रभाव डाला । बारदोली के फैसले के बाद राष्ट्रीय आंदोलन का ह्रास हुआ । मुस्लिम

लीग और कांग्रेस का सहयोग समाप्त हो गया और आंदोलन के दरम्यान जो हिंदू-मुस्लिम एकता बनी थी वह ख़त्म होने लगी ।"[20]

काउंसिल में प्रवेश के कार्यक्रम को लेकर 1923 में स्वराज्य पार्टी की स्थापना हुई । देशबंधु दास, मोतीलाल नेहरू, विट्ठलभाई पटेल इस दल के प्रमुख नेता थे । ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत डोमिनियन स्टेट प्राप्त करना स्वराज्य पार्टी का लक्ष्य था । ।" पार्टी कार्यक्रम ने पूंजीवाद और ज़मींदारी की रक्षा की गारंटी दी । कार्यक्रम में कहा गया कि व्यक्तिगत और निजी संपत्ति को मान्यता प्राप्त रहेगी और उसकी रक्षा होगी ।"[28]

यह भी घोषणा की गई कि यही पार्टी पूंजी के शोषण से श्रम की रक्षा करेगी और श्रम की अनुचित मांगोंसे पूंजी की रक्षा करेगी । एक तरफ़ तो हमें ऐसे संगठन का रास्ता निकालना होगा जिसके ज़रिये पूंजीपतियों का ज़मींदारों द्वारा श्रम का शोषण रोका जा सके, लेकिनदूसरी तरफ़ हमें इस बात का भी ख़याल रखना पड़ेगा कि ये संगठन मनमानी और असंगत मांगों के ज़रिए शोषण के माध्यम न बन जाएं । श्रम को सुरक्षा प्रदान करने की ज़रूरत है, लेकिन वैसे ही औद्योगिक कारख़ानों की रक्षा भी आवश्यक है ।"[29] स्वराज्यवादियों का निजी संपत्ति, वर्ग-समन्वय और पूंजी एवं श्रम में हितों के तादात्म्य के सिद्धांत में विश्वास था ।

"स्वराज पार्टी अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर 1925 में थी, जब कांग्रेस ने अपना सारा राजनीतिक कार्य स्वराज पार्टी को हस्तांतरित कर दिया था । स्वराज पार्टी भारतीय पूंजीपति वर्ग का

विधानवादी दल था । राष्ट्रवादी जनआंदोलन का ज्वार जब उतर गया तब भारतीय पूंजीपति वर्ग ने अपने वर्गीय हितों और कार्यक्रम के प्रश्रय के लिए विधायिका सभाओं का इस्तेमाल करना चाहा । इस वर्ग की मांगे थीं– औद्योगिक प्रसार, बड़े-बड़े उद्योगों का विकास आदि।[30]

असहयोग आंदोलन के बाद वाले काल में कई साम्प्रदायिक झगड़े हुए । विपिनचंद्र "आधुनिक भारत" में लिखते हैं " असहयोग आंदोलन में जब उतार आया और जनता नें कुंठा की भावना भर गई तो ऐसी स्थिति में सांप्रदायिकता अपना घिनौना सिर उठाने लगी । सांप्रदायिक तत्वों ने स्थिति का फ़ायदा उठाकर अपने विचारों का प्रचार किया और 1923 के बाद देश में एक के बाद एक कई सांप्रदायिक दंगे हुए ।"[31]

देश में स्थिति सचमुच गंभीर थी । राजनीतिक उदासीनता आम बात थी । गांधी जी ने राजनीति से संन्यास ले लिया था, स्वराज्यवादी बंट चुके थे और सांप्रदायिकता फल-फूल रही थी । मई 1927 में गांधी जी ने लिखा "प्रार्थना और प्रत्युत्तर मेरी अकेली आशा है ।" लेकिन राष्ट्रीय उभार की शक्तियाँ चुपके चुपके बढ़ रही थीं । नवम्बर 1927 में जब साइमन कमीशन के गठन की घोषणा हुई तो भारत इस अंधेरे से फिर बाहर निकला और राजनीतिक संघर्ष का एक नया युग आरम्भ हुआ ।"[32]

वर्ष 1927 में राष्ट्रीय आंदोलन में फिर से शक्ति पाने के अनेक संकेत देखे गए । इसी वर्ष समाजवाद की नई प्रवृत्ति का भी उदय हुआ ।

मार्क्सवाद और दूसरे समाजवादी विचार बहुत तेज़ी से फैले । 1927 में ग़ैर हिंदुस्तानियों से बने साइमन कमीशन की स्थापना से राजनीतिक दलों और पार्टियों में असंतोष और गहराया । कांग्रेस का 1927 का मद्रास अधिवेशन बढ़ते हुए राजनीतिक असंतोष के वातावरण में हुआ । कांग्रेस में वामपंथ का उदय हो गया था जो डोमिनियन स्टेट्स के लक्ष्य से संतुष्ट नहीं था और पूर्ण स्वराज्य को अपना लक्ष्य बनाना चाहता था

मद्रास-अधिवेशन में कांग्रेस के इतिहास ने नया मोड़ लिया । पहली बार यहीं कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य को अपना लक्ष्य घोषित किया । इसने साइमन कमीशन के बहिष्कार का और इंटरनेशनल लीग अगेंस्ट इंपीरियलिज़्म से संबद्ध होने का फ़ैसला किया ।

1928-29 में छात्रों और नौजवानों के आंदोलन बड़ी तेजी से बढ़े । जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में ऑल इंडिया इंडिपेंडेंस लीग की स्थापना हुई, जिसकी कई शाखाएं बनी । इन संगठनों ने स्वतंत्रता की मांग का समर्थन किया और आमूल परिवर्तन का कार्यक्रम बनाया । इनकी सहानुभूति जनसाधारण के आंदोलनों और मांगों से थी और उन्होंने उनका समर्थन किया । वे साधारणत: स्वतंत्रता, देशी रियासतों और जमींदारियों के उन्मूलन और जनता की हालत सुधार सकने वाले राष्ट्रीय प्रजातांत्रिक कार्यक्रम के पक्ष में थे । इंडिपेंडेंस लीग, वर्कर्स एण्ड पीजेंट्स पार्टियों और छात्रों और नौजवानों के संगठनों ने साइमन कमीशन के बहिष्कार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की ।"[33]

कमीशन 3 फरवरी 1928 को भारत पहुंचा । उस दिन विरोध में अखिल भारतीय हड़ताल संगठित की गई । देश के कई भागों में सभाएं हुईं; प्रदर्शन हुए । कई जगहों में पुलिस और प्रदर्शनकारियों में मुठभेड़ हुई । लाहौर में लाला लाजपतराय पुलिस की लाठियों के शिकार हुए जिनकी उसी चोट के कुछ दिनों बाद मृत्यु हो गई । साइमनकमीशन विरोधी आंदोलन तात्कालिक रूप में एक व्यापक राज - नीतिक संघर्ष को जन्म दे सका, कारण कि राष्ट्रीय आंदोलन के अघोषित मगर सर्वमान्यनेता , अर्थात गांधी जी को विश्वास न था कि संघर्ष का समय आ गया है । पर जनता के उत्साह को अधिक समय तक बांध कर नहीं रखा जा सका । अब एक बार फिर देश संघर्ष के लिए कमर कस चुका था ।

1929 के लाहौर अधिवेशन जिसके अध्यक्ष जवाहर लाल नेहरू बनाए गए थे में पारित एक प्रस्ताव ने पूर्ण स्वराज्य को कांग्रेस का उद्देश्य घोषित किया । 31 दिस. 1929 को स्वाधीनता का नया-नया तिरंगा झंडा लहराया गया और 26 जन. 1930 को पहला स्वाधीनता दिवस घोषित किया गया । उसके बाद यह दिवस हर साल मनाया जाने लगा, जब लोग यह शपथ लेते थे कि ब्रिटिश शासन की अधीनता अब और आगे स्वीकार करना मानवता और ईश्वर के प्रति अपराध होगा । इस अधिवेशन ने एक नागरिक अवज्ञा आंदोलन भी छेड़ने की घोषणा की ।"[34]

दूसरा नागरिक अवज्ञा आंदोलन 12 मार्च 1930 को महात्मा गांधी के दांडी मार्च के साथ प्रारम्भ हुआ । महात्मा गांधी

6 अप्रैल को दांडी पहुंचे, समुद्र तट से मुट्ठी भर नमक उठाया और इस प्रकार नमक क़ानून तोड़ा । यह इस बात का प्रतीक था कि भारतीय जनता अब ब्रिटिश क़ानूनों और ब्रिटिश शासन के अंतर्गत जीने के लिए तैयार नहीं है । आंदोलन तेजी से फैला । पूरे देश में नमक क़ानून तोड़े गए ।

देश में हर जगह जनता हड़तालों, प्रदर्शनों और विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार में भाग लेने लगी । लाखों भारतीयों ने सत्याग्रह किया । देश के अनेक भागों में किसानों ने ज़मीन की मालगुज़ारी और लगान देने से इंकार कर दिया । उनकी ज़मीनें ज़ब्त कर ली गईं ।[35]

इतिहासकार बिपिन चंद्र इस आंदोलन की प्रमुख विशिष्टता की ओर संकेत करते हुए "आधुनिक भारत" में लिखते हैं कि " इस आंदोलन की एक प्रमुख विशेषता स्त्रियों की भागीदारी थी । हज़ारों स्त्रियां घरों से बाहर निकलीं और सत्याग्रह में भाग लिया । विदेशी वस्त्र या शराब बेचने वाली दुकानों पर धरना देने में उनकी सक्रिय भूमिका रही । जुलूसों में वे पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलीं ।"[36]

1930 में ब्रिटिश सरकार ने लंदन में भारतीय नेताओं और सरकारी प्रवक्ताओं का पहला गोलमेज सम्मेलन आयोजित किया । इसका उद्देश्य साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करना था । लेकिन कांग्रेस ने सम्मेलन का बहिष्कार किया और उसकी कार्यवाही बेकार गई ।

1931 मे लार्ड इर्विन और महात्मा गांधी के बीच एक समझौता हुआ । सरकार अहिंसक रहने वाले राजनीतिक बंदियों को रिहा करने पर तैयार हो गई । नमक बनाने का अधिकार तथा विदेशी वस्त्रों तथा शराब की दुकानों पर धरना देने का अधिकार भी मान लिए गये । तब कांग्रेस ने नागरिक अवज्ञा आंदोलन रोक दिया और दूसरे गोलमेल सम्मेलन में भाग लेने पर तैयार हो गई ।*[37]

महात्मा गांधी सित. 1931 में दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने इंग्लैड गए । लेकिन उनकी ज़ोरदार वकालत के बावजूद सरकार ने डोमिनियन स्टेट्सतत्काल देनेस्वतंत्रता की बुंनियादी राष्ट्रवादी मांग को मानने से इंकार कर दिया । इस बीच देश के अनेक भागों में किसानों में असंतोष की लहर फैल चुकी थी । विश्वव्यापी मंदी के कारण खेतिहर पैदावारों के दाम गिर गए थे और लगान और मालगुज़ारी का बोझ उनके लिए असह्य हो चला था ।*[38] कुछ किसानों ने लगान और मालगुजारी देने से इंकार कर दिया । सरकार का आरोप था कि कांग्रेस किसानों को उकसा रही है और गांधीइर्विन इक़रारनामे की शर्तों को तोड़ रही है । दूसरी तरफ़ कांग्रेस का कहना था कि इक़रारनामे के बावजूद सरकार ने दमन की नीति का परित्याग नहीं किया था ।

दिसम्बर 1931 में भारत लौटने के तुरंत बाद गांधी ने नए वायसराय लार्ड विलिंग्डन से मिलना चाहा लेकिन लार्ड विलिंगडन इसके लिए तैयार नहीं हुए । जब कांग्रेस और सरकार के बीच बातचीत अंतत: भंग हो गई, तब कांग्रेस ने नागरिक अवज्ञा आंदोलन को पुनर्जीवित

करने का निर्णय लिया गया । 4 जन. 1932 को गांधी गिरफ़्तार कर लिये गए । .....प्रधानमंत्री मैकडानल्ड ने जुलाई में कम्युनल अवार्ड §सांप्रदायिक निर्णय§ की घोषणा की, जिसके अनुसार दलित जातियों एवं अन्य अल्पसंख्यकों के लिए अलग निर्वाचक इकाइयों की व्यवस्था हुई । गांधी दलित जातियों के किसी भी पृथक् निर्वाचन के विरूद्ध थे और उन्होंने प्रधानमंत्री के निर्णय के विरूद्ध आमरण अनशन शुरू कर दिया । इसके फलस्वरूप पूना-पैक्ट का जन्म हुआ, जिसमें सम्मिलित हिंदू निर्वाचन क्षेत्रों की बात बरकरार रही । लेकिन दलित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित कर दिए गए ।"[39]

नागरिक अवज्ञा आंदोलन भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में दूसरा सार्वजनिक राष्ट्रीय संघर्ष था जो 1934 में समाप्त हो गया । इसका जन आधार 1920-21 के आंदोलन से अधिक व्यापक था । इससे भारतीय जनता में बढ़ती राजनीतिक चेतना का सबूत मिलता है । साधारण लोग जिनमें किसान भी थे बड़ी तादाद में राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हुए । पहली बार उनके अपने व्यापक, राजनीतिक एवं आर्थिक संगठन भी बने ।

20 वीं सदी के चौथे दशक में कांग्रेस के अंदर और बाहर समाजवादी विचारों का तेजी से प्रसार हुआ । विश्वव्यापी मंदी के कारण पूंजीवादी प्रणाली बदनाम हो गई और लोगों का ध्यान मार्क्सवाद, समाजवाद और आर्थिक योजना के विचार की ओर गया ।

इतिहासकार ए. आर. देसाई भारतीय राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि में लिखते हैं कि भारत में दो प्रकार के आंदोलन चल रहे थे । "एकतरफ उद्योग - पतियों, व्यापारियों, मजदूरों, किसानों, पेशेवर लोगों, विद्यार्थियों, औरतों आदि विभिन्न सामाजिक वर्गों के अनुभागीय हितों और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उनके अपने अलग-अलग आंदोलन संगठित हुए । विभिन्न सामाजिक वर्गों या दलों के अपने अलग संगठन बने और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उन्होंने अलग संघर्ष किए । यों, इन वर्गों के पारस्परिक संबंधों का एक ठोस ऐतिहासिक आधार था जिसके चलते उनकी दोस्ती दुश्मनी बनती-बिगड़ती रही ।

दूसरी तरफ, विदेशी शासन के विरूद्ध सभी या कई एक वर्गों का चिरस्थाई या प्रसंगात्मक संयुक्त आंदोलन चल रहा था । इस अखिल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने होमरूल, डोमिनियन स्टेट्स, पूर्ण स्वतंत्रता आदि की मांग की । भारत को विदेशी राजनीतिक नियंत्रण से मुक्त करना इस आंदोलन का सम्मिलित साध्य था । लेकिन सत्ता प्राप्ति के बाद राज्य एवं आर्थिक, सामाजिक संरचना का रूप क्या हो, इसके बारे में प्रत्येक वर्ग की अपनी अलग धारणा थी ।"[40]

अंग्रेजी शासन काल के दौरान कुछ नए सामाजिक वर्गों का उद्भव हुआ । इनके उद्भव का कारण क्या था और ये नए सामाजिक वर्ग कौन-कौन से थे ? अब इस पर ध्यान केंद्रित करना लाज़िमी है क्योंकि इन वर्गों का भारत के सामाजिक आर्थिक तंत्र से गहरा संबंध रहा है ।

अंग्रेजी शासन काल के दौरान विकसित नए सामाजिक अर्थतंत्र नई राज्यव्यवस्था, नए प्रजातंत्र और नई शिक्षा के परिणामस्वरूप नए सामाजिक-वर्गों का उद्भव हुआ ।[41] ए. आर. देसाई के अनुसार अतीत के भारतीय समाज में ये वर्ग नहीं थे । ये तो नई पूंजीवादी व्यवस्था की देन हैं जो अंग्रेजों की भारत विजय और विदेशी अर्थतंत्र के भारत पर पड़े प्रभाव के कारण इस देश में आए । भारतीय समाज में मूलभूत पूंजीवादी आर्थिक रूपांतर के फलस्वरूप यहां की जनता नए सामाजिक दलों और नए वर्गों में नए सिरे से संगठित हुई ।

कृषि के क्षेत्र में मुख्यत: ये वर्ग थे -

1. ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाया गया ज़मींदार वर्ग,
2. अन्यत्रवासी भूस्वामी,
3. ज़मींदार और अन्यत्रवासी भूस्वामियों के मातहत पट्टेदार
4. काश्तकार मालिकों का वर्ग जिसकी उच्चतम मध्यम और निम्न तीन श्रेणियां थी ।
5. खेतिहर मज़दूर
6. व्यापारियों का नया वर्ग
7. सूद खोर महाजनों का नया वर्ग

नगरो में ये वर्ग मुख्यत: निम्नलिखित थे -

1. वाणिज्यिक और वित्तीय पूजीपतियों और उद्योगपतियों का वर्ग
2. आद्योगिक, आवागमन के साधन संबंधी, खनिज विषयक और ऐसे अन्य कार्यों में लगे आधुनिक मज़दूर वर्ग,

3. आधुनिक पूंजीवादी आर्थिक अर्थव्यवस्थासेबंधा छोटे व्यापारियों और दुकानदारों का वर्ग,

4. पेशेवर वर्ग, टेक्नीशियन, डाक्टर, वक़ील, प्रोफेसर, पत्रकार, मैनेजर, किरानी और अन्य लोगों का पेशेवर वर्ग, जिसमें बुद्धिजीवियों और शिक्षित मध्यमवर्ग के लोग हैं ।"[42]

मूलत: ब्रिटिश सरकार के अधिनियमों §जैसे नए प्रकार के भूमि संबंध§ द्वारा लाए गए आधारभूत आर्थिक परिवर्तन, भारतीय समाज में बाहर की पूंजीवादी दुनिया के वाणिज्यिक और अन्य प्रकार के तत्वों के प्रवेश और भारत में नए उद्योगों की स्थापना के कारण ही ये नए वर्ग उदित हुए ।

ब्रिटिश सरकार ने ज़मींदारी और रैयतवारी प्रथा के द्वारा ज़मीन पर निजी मिल्कियत की शुरूआत की और इससे जागीरों के मालिकों एवं ज़मींदारों और खेतिहर मालिकों के वर्ग का जन्म हुआ । फिर, ज़मीन को पट्टे पर देने के अधिकार की शुरूआत से बटाईदारों और पट्टेदारों के वर्गों का जन्म हुआ तथा ज़मीन की ख़रीद बिक्री के अधिकार और ज़मीन पर मज़दूर लगाने के अधिकार की शुरूआत के कारण अन्यत्रवासी ज़मींदार और कृषक सर्वहारा-वर्ग के उदय के लिए स्थिति तैयार हुई ।"[43]

1853 में मार्क्स ने लिखा,"जमींदारी और रैयतवारी दोनों व्यवस्थाएं अंग्रेजों द्वारा लाई गई कृषिक क्रांतियां थीं और एक दूसरे की विरोधी थीं । इनमें पहली अभिजात तंत्रीय और दूसरी जनतांत्रिक

थी । ज़मींदारी प्रथा अंग्रेजी भूस्वामित्व का विकृत रूप थी और बटाईदारी प्रथा फ्रांसीसी किसान मिलकियत का। हानिकर दोनों व्यवस्थाएं थीं, बिल्कुल विरोधी तत्वों के सम्मिश्रण से कोई भी न तो ज़मीन जोतने वालों के हित में थी और न जमीन के मालिक के हित में । केवल भूमि कर लगाने वाली सरकार को इन व्यवस्थाओं से फ़ायदा था । "[44]

भारत में ज़मींदार, पट्टेदार, किसान मालिक, खेत मज़दूर के साथ हीखेती वाले क्षेत्रों, बड़े पैमाने पर आधुनिक सूदखोर महाजन, व्यापारी जो किसान और मंडी के बीच मध्यस्थ का काम करते थे दूरस्थ ज़मींदार जो कर की वसूली में ही रूचि रखते थे, आदि के नए वर्ग पैदा हुए ।

इस व्यवस्था की परिणति का पर्दाफ़ाश करते हुए ए. आर.देसाई लिखते हैं कि 1929 के विश्वव्यापी आर्थिक संकट का भारत के कृषक समुदाय पर काफ़ी बुरा असर पड़ा । खेती के उत्पादनों की कीमत इतनी तेजी से घटीकि 1929 से 1936 के बीच समस्त ऋण की राशि 1800 करोड़ हो गई । इस असाधारण वृद्धि का मूल कारण यह है कि 1929 के बादकिसानों की आय आधे से भी कम हो गई लेकिन उनका कर भार ज्यों का त्यों रहा ।

.....किसानों की बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता के कारण रैयतवारी इलाकों के बड़े पैमाने पर जमीन काश्तकारों के हाथों से निकलकर सूदखोर महाजनों के हाथ में जाने लगी और जमींदारी इलाकों में बड़े पैमाने पर

किसानों की बेदख़ली हुई । निष्ठुर सूदख़ोर महाजनों ने तत्परता से किसानों की बेबसी का अधिक से अधिक फ़ायदा उठाया । ..... किसानों से पैसा चूसने के लिए ये साहूकार कानूनी तरीक़ों के अलावा जालसाज़ी से भी काम लेते थे, जैसे मूल से अधिक का शर्तनामा लिखवाना, ग़लत हिसाब रखना, इत्यादि । वे किसान की ग़रीबी और उसके अज्ञान का भी फ़ायदा उठाते थे ।"[45]

प्रेमचंद युगीन राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति के अंतर्गत अभी तक राष्ट्रीय आंदोलन, प्रथम विश्वयुद्ध का प्रभाव, किसान आंदोलन, महात्मागांधी की भूमिका और प्रभाव तथा नए सामाजिक वर्गों के उदय पर प्रकाश डाला गया । अब समाज सुधार आंदोलनों पर ग़ौर करना प्रासंगिक है ।

19 वीं सदी के राष्ट्रीय जागरण का प्रमुख प्रभाव सामाजिक सुधार के क्षेत्र में देखने को मिला । नवशिक्षित लोगों ने बढ़-चढ़कर जड़ सामाजिक रीतियों तथा पुरानी प्रथाओं से विद्रोह किया । सामाजिक सुधार के आंदोलन में लगभग सभी धर्म-सुधारकों का योगदान रहा । कारण यह कि भारतीय समाज के पिछड़ेपन की तमाम निशानियों, जैसे जाति प्रथा या स्त्रियों की असमानता को अतीत में धार्मिक मान्यता प्राप्त रही है । साथ ही सोशल कांफ्रेंस, भारत सेवक समाज जैसे कुछ अन्य संगठनों तथा ईसाई मिशनरियों ने भी समाज सुधार के लिए जम कर काम किया । ज्योति बाफुले, सावित्री बाई, गोपाल हरिदेशमुख,

जस्टिस रानाडे, के. टी. तेलंग, बी. एम. मालाबारी, डी. के. कर्वे, शशिपद बनर्जी, बिपिनचंद्रपाल, वीरेशलिंगम, ई. वी. रामास्वामी नायकर 'पेरियार' और डा. अम्बेडकर तथा दूसरे प्रमुख व्यक्तियों की भी एक प्रमुख भूमिका रही ।"[46]

20 वी. सदी में और ख़ासकर 1919 के बाद राष्ट्रीय आंदोलन समाज-सुधार का प्रमुख प्रचारक बन गया । जनता तक पहुंचने के लिए सुधारकों ने प्रचार कार्य में भारतीय भाषाओं का अधिकाधिक सहारा लिया । उन्होंने अपनें विचारों को फैलाने के लिए उपन्यासों, नाटकों, काव्य, लघु-कथाओं प्रेस तथा 1930 के दशक में फिल्मों का भी उपयोग किया ।

समाज सुधार के आंदोलनों नें मुख्यत: दो लक्ष्यों को पूरा करने के प्रयास किये -

§अ§ स्त्रियों की मुक्ति तथा उनको समान अधिकार देना

§ब§ जाति प्रथा की जड़ताओं को समाप्त करना तथा ख़ासकर छुआछूत का ख़ात्मा ।

§अ§ स्त्रियों की दशा पर प्रकाश डालते हुए बिपिनचंद्र 'आधुनिक भारत' में लिखते हैं कि "भारत में स्त्रियाँ अगणित सदियों से पुरूषों के अधीन तथा सामाजिक उत्पीड़न का शिकार रही हैं । भारत में प्रचलित विभिन्न धर्मों व उन पर आधारित गृहस्थ नियमों ने स्त्रियों को पुरूषों से हीन स्थान दिया । इस संबंध में उच्च वर्गों की स्त्रियों की स्थिति किसान औरतों से भी बदतर थी । .....

पारम्परिक विचारधारा में पत्नी और माँ की भूमिका में स्त्री की प्रशंसा तो की गई है मगर व्यक्ति के रूप में उसे बहुत हीन सामाजिक स्थान दिया गया है । अपने पति से अपने संबंधों से अलग उसका भी एक व्यक्तित्व है ऐसा कभी नहीं माना गया । ..... देश के काफ़ी बड़े भाग में स्त्रियों को पर्दे में रखा जाता था । बाल-विवाह की प्रथा आम थी । ..... विधवाएं पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं और उन्हें त्यागी व बंदी जीवन बिताना पड़ता था । ..... सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से पुरूषोंपर पूरी तरह निर्भर थीं ।"[47]

नए आर्थिक परिवेश के उद्भव, नई राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना, आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति और चिंतन शैलियों के प्रसार आदि के फलस्वरूप भारत में राष्ट्रीय और प्रजातांत्रिक जागरण हुआ उसी की एक अभिव्यक्ति यह भी थी कि जिस मध्ययुगीन सामाजिक अधीनस्थता और प्रपीड़न से भारतीय नारी सदियों से त्रस्त थी, उससे उसकी मुक्ति के आंदोलन शुरू हुए ।

अनेकानेक व्यक्तियों, सुधार समितियों तथा धार्मिक संगठनों ने स्त्री-शिक्षा का प्रसार करने, विधवाओं के पुनर्विवाह को प्रोत्साहन देने, विधवाओं की दशा सुधारने, बाल-विवाह रोकने, स्त्रियों को पर्दे से बाहरलाने, एक पत्नी प्रथा प्रचलित करने तथा स्त्रियों को व्यवस्था या सरकारी रोज़गार में जाने के योग्य बनाने के लिए कड़ी मेहनत की ।

स्त्रियों को दबाकर रखने वाले विधानों और रीति-रिवाजों को ख़त्म करने के प्रारम्भिक प्रयास पुरूष जाति के ही प्रबुद्ध सदस्यों ने किए । लेकिन जो इन अनीतियों की शिकार थीं, वे भी कालक्रम से स्वयं उद्बुद्ध हुईं और उन्होंने अपने स्वयं के नेतृत्व में अपनी मुक्ति के आंदोलन चलाए । उन्होंने अपने संगठन बनाए और अपनी अशक्तताओं के विरूद्ध संघर्ष के लिए मोर्चाबंदी की । उनके सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षिक उत्थान के लिए काम करने वाले संगठनों में 1926 में स्थापित आल इंडिया वीमंस कांफ्रेंस सबसे आगे था ।[48]

20 वीं. सदी में जुझारू राष्ट्रीय आंदोलन के उदय से स्त्री मुक्ति के आंदोलन को बहुत बल मिला । स्वतंत्रता के संघर्ष में स्त्रियों ने एक सक्रिय और महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । बंग-भंग विरोधी आंदोलन तथा होमरूल आंदोलन में उन्होने बड़ी संख्या में भाग लिया । पीछे संकेत दिया जा चुका है 1918 के बाद वे राजनीतिक जुलूसों में भी चलने लगीं, विदेशी वस्त्र और शराब बेचने वाली दुकानों पर धरने देने लगीं और खादी बुनने तथा उसका प्रचार-प्रसार करने लगीं । असहयोग आंदोलन में वे जेल गईं तथा जन-प्रदर्शनों में उन्होंने लाठी, आंसू गैस और गोलियां भी झेलीं । उन्होने क्रांतिकारी आतंकवादी आंदोलन में भी सक्रिय भाग लिया । वे विधान मंडलों के चुनावों में वोट देने तथा उम्मीदवारों के रूप में खड़ी भी होने लगीं । इस प्रकार नारी अस्मिता और चेतना की लहर चल पड़ी ।

1920 के दशक में जब ट्रेड यूनियन और किसान आंदोलन खड़े हुए तो अक्सर स्त्रियां उनकी पहली पंक्तियों में दिखाई देतीं। भारतीय स्त्रियों की जागृति तथा मुक्ति में सबसे महत्वपूर्ण योगदान राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी भागीदारी का रहा।"[49]

हिंदी प्रदेश के नारी आंदोलन में इलाहाबाद के आनंद भवन में रह रहे नेहरू परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण थी। "स्त्री दर्पण" के सम्पादन और संचालन से संबंधित तीनों स्त्रियों, रामेश्वरी नेहरू, रूपकुमारी नेहरू और कमला नेहरू इसी परिवार की थीं। इसी परिवार की उमा नेहरू अपने समय की सबसे आगे बढ़ी हुई नारीवादी स्त्री थीं। उन्होंने "स्त्री दर्पण' में मार्च 1918 से अगस्त 1918 तक "हमारे समाज सुधारक", "हमारे सामाजिक ढाचें', 'हमारे हृदय' और 'हमारी सूरतें' शीर्षक से महत्वपूर्ण लेख लिखे। इन लेखों में बड़े तीखे ढंग से यह दिखलाया गया कि यूरोपीय सम्पर्क के प्रभाव से भारत के पुरूष ख़ुद तो पश्चिमी आदर्शों के रंग में रंगते जा रहे हैं, पर चाहते हैं कि उनकी स्त्रियां पूर्वीय ही दिखें। ऐसा होना असंभव है। पुरूष द्वारा सौंदर्य को स्त्री का आदर्श बताना एक स्त्री विरोधी मूल्य है और पाखण्ड है क्योंकि इससे स्त्री शक्ति से वंचित होती है और ख़ुद पुरूष अपनी सौन्दर्य की देवी से सारे दासोचित काम करता है। पुरूषों को सिखाने की ज़रूरत है। भारतीय समाज स्त्रियों के व्यक्तित्व को कुचलता है और उन्हें बेतुके सांचो में ज़बर्दस्ती ढालता है।

पुरूष स्त्री के हृदय को नहीं समझता उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को नहीं मानता, इसलिए उसकी प्राकृतिक भावनाओं की अभिव्यक्ति भीसहन नहीं करता । स्त्री-पुरूषों के बीच दासी और स्वामी के घृणित संबंध को ख़त्म करके मित्रता और समानता का संबंध कायम होना चाहिए।[50]

बंगाल मे ईश्वरचंद विद्यासागर तथा बंबई में श्री मालाबारी, कवि नर्मद, जस्टिस रानाडे और के.नारायण जैसे समाजसुधारकों ने विधवा-विवाह के अधिकार का जमकर समर्थन किया । बाल-विवाह के विरूद्ध निर्णायक क़दम 1929 में उठाया गया । इस साल पारित किए गए चाइल्ड मैरिज रिस्ट्रेंट एक्ट में विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाकर लड़कियों के लिए चौदह और लड़कों के लिए 18 वर्ष कर दी गई ।

"मंदिरों में वेश्यावृत्ति की प्रथा नए भारत को अतीत से विरासत में मिली थी यद्यपि इस तरह की प्रथा प्राचीन यूनान में भी प्रचलित थी । देवदासियों की वंशागत जाति" ही थी और ये बचपन में ही मंदिर की सेवा मे समर्पित हो जाती थीं । ....यद्यपि इनकी संगीत और नृत्य कुशलता के कारण ये कलाएं जीवित बनी रहीं, फिर भी इस तथ्य के कारण कि ये देवदासियाँ वेश्याएं थीं, सम्मानीय कुलीन औरतों के लिए ये कलाएं निकृष्ट और अप्रिय रूचि कर थीं ।"[51]

डा. मुतुलक्ष्मी रेड्डी और अन्य सुधारकों के सतत प्रयत्न के फल - स्वरूप 1925 में एक एक्ट पारित हुआ और दंड संहिता की कुछ धाराएं जिनके अनुसार नाबालिग लड़कियों का अवैध अनैतिक व्यापार दंडनीय है, देवदासियों पर भी लागू हुई ।"[52]

सामाजिक अस्तित्व के प्रत्येक क्षेत्र में प्रजातांत्रिक सिद्धांतों के कार्यान्वयन के आंदोलनों ने केवल विदेशी सत्ता पर ही नहीं, अपितु अंग्रेजी शासन से पूर्व के भारत की ग़ैर प्रजातांत्रिक विरासत पर भी चोट की । उन्होंने जाति जन्य नियम और निषेध के अधीन व्यक्ति की आचार स्थिति और पुरूषों के प्राप्त अधिकार से स्त्री को वंचित रखने की प्रथा का विरोध किया ।

यह प्रायः सबने स्वीकार किया कि स्त्री को शिक्षा और संस्कृति के समान अधिकार है । स्त्रियों में तेज़ी से शिक्षा का प्रसार हुआ । लड़कियों की शिक्षा के प्रति जो रूढ़िगत विरोध था, वह ख़त्म होने लगा ।

§ब§ समाज सुधार के प्रयास में जाति-व्यवस्था एक प्रमुख मोर्चा बना ।

जैसा कि पहले अध्याय में जाति-व्यवस्था का विस्तृत विश्लेषण किया जा चुका है कि भारतीय समाज में व्याप्त जाति-व्यवस्था पदानुक्रमित श्रेणी श्रृंखला आबद्ध थी और इसलिए सामाजिक और न्यायिक विषमता पर आधरित थी । शूद्रों, अछूतों §अतिशूद्रों§ की जगह निम्नतम धरातल पर नियत थी । §वर्तमान में भी है § गांव या शहर में उन्हें बस्ती से बाहर अछूत इलाक़े में रहना पड़ता था । इनकी छाया मात्र से हिंदू अपवित्र होजाते थे । सार्वजनिक कुओं तालाबों से ये पानी नहीं ले सकते थे । इनके लिए कुएं और तालाब निश्चित होते थे और जहां कुएं, तालाब इनकेलिए उपलब्ध नहीं होते थे तो पोखरों और सिंचाई की गंदी नालियों का पानी पीते थे । शिक्षण संस्थाओं में आम छात्रों

से दूर बैठाया जाता था । इनको मनुष्य नहीं जानवर से भी गया - गुज़रा समझा जाता था । इस प्रकार असमानता और अमानवीयता के इस भीषण प्रकोप से मुक्ति और अस्पृश्यता उन्मूलन भारत के सभी समग्र सुधार आंदोलनों का प्रमुख लक्ष्य बना ।

ख़ुद अस्पृश्य जातियों में भी एक नई चेतना, नए बोध का जागरण हो रहा था । जिसके प्रतिरूप डा. अम्बेडकर थे । डा. अम्बेडकर ने अपने समाज की तक़लीफ़ों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद की और उनके मूल - भूत मानवीय अधिकारों के लिए जमकर संघर्ष किया । " ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लासेज एसोसिएशन और ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लासेज फेडरेशन इन जातियों के प्रमुख संगठन थे । दूसरे संगठन को डा. अम्बडेकर ने स्थापित किया और उन्होंने ही इसका नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन किया । ....और भी अनेक स्थानीय और जातीय संगठन थे । .....ये सारी संस्थाएं डिप्रेस्ड क्लासेज (अस्पृश्य जातियों) की अशक्तता समाप्त करने के प्रयास में लगी हुई थीं । मंदिरों और सार्वजनिक पाठशालाओं में प्रवेश और सार्वजनिक कुओं के उपयोग पर प्रतिबंध तथा निवास स्थान का पार्थक्य अछूतों की अशक्तता के कारण थे । "[53]

जल प्राप्ति के समानाधिकार के लिए डा. अम्बडेकर के नेतृत्व में चलाया गया महाड़ सत्याग्रह अस्पृश्यों के लिए समान सामाजिक हक़ हासिल करने के लिए लड़ा गया महान संघर्ष था ।

महात्मा गांधी और उनके द्वारा 1932 में स्थापित ऑल इंडिया हरिजन सेवक संघ और अन्य संस्थाएं भी अस्पृश्यों के लिए व्यापक

समाज सुधार संबंधी और शैक्षिक कार्य कर रही थी । गांधी नें इन जातियों के लिए 'हरिजन' नाम विहित किया था । संघने हरिजनों के लिए बहुत सारी पाठशालाएं शुरू कीं जिनमें कुछ आवासीय व्यावसायिक पाठशालाएं भी थीं ।"[54]

डा. अम्बेडकर का विचार था कि जब तक भारतीय जनता राजनीतिक सत्ता हस्तगत नहीं कर लेती और अगर यह सत्ता भारतीय समाज के सामाजिक तौर पर प्रपीड़ित-वर्ग के हाथों में नहीं आती, तो इस वर्ग की सामाजिक कानूनी और सांस्कृतिक अशक्तताओं को पूरी तरह खत्म नहीं किया जा सकता । उन्होंने कहा - "आपके दुखों को कोई इतनी अच्छी तरह दूर नहीं कर सकता जिस तरह आप कर सकते हैं और आप इन्हें तब तक दूर नहीं कर सकते जब तक कि राजनीतिक सत्ता आपके हाथों में न आए .....हमारे पास एक ऐसी सरकार होनी चाहिए जिसमें सत्ता में बैठे लोग जीवन में सामाजिक व आर्थिक नियमों को संशोधित करने से न डरते हों, जिसकी न्याय और व्यावहारिकता मांग करती है । इस भूमिका को ब्रिटिश सरकार कभी नहीं निबाह सकती । केवल जनता की, जनता के लिए जनता द्वारा चलाई जा रही सरकार अर्थात् दूसरे शब्दों में केवल स्वराज्य इस काम को संभव बना सकता है ।"[55]

"1920 के आसपास भारत के कई हिस्सों में एक नया दलित आंदोलन जिसे आदि आंदोलन के नाम से जाना जाता है - पैल रहा था । यह आंदोलन दलितों को अनार्य या मूल निवासी मानकर उनकी खोई हुई

पहचान को स्थापित करने के लिए काफ़ी तेज़ी से पंजाब में आदि धर्म, उ. प्र. में आदि हिंदू, हैदराबाद में आदि द्रविड़, आदि कर्नाटक के नाम से भारत के कई राज्यों में एक साथ उभरा । इन सभी आंदोलनों में आर्यों को आक्रमणकारी और शूद्रों, अतिशूद्रों को मूल निवासी जिनकी अपनी महान् संस्कृति §हड़प्पा§ को नष्ट कर दिया गया, कहा गया ।[56]

अंग्रेजी शासन काल में भारतीय जनता का जो राष्ट्रीय एवं प्रजातांत्रिक नवजागरण हुआ, दलितों का प्रजातांत्रिक नवजागरण और अपने मूलभूत मानवीय अधिकारों का बढ़ता हुआ एहसास उसीका एक अंग था। उस युग में एक नई आर्थिक और राजनीतिक-व्यवस्था की स्थापना हुई । इस व्यवस्था का सैद्धांतिक आधार यह था कि समाज के सारे व्यक्ति समान इकाई हैं और क़ानून की दुनिया में सब बराबर हैं । हर व्यक्ति के अधिकार समान है और हर व्यक्ति जो पेशा चाहे अपना सकता है । इस कारण दलितों में अपनी स्वतंत्रता पर लगे हुए पुराने शिकंजों को तोड़ फेंकने की तीव्र आकांक्षा जागृत हुई । दलितों के विद्रोहात्मक संघर्ष और शेष वर्गों के मानवीय व्यवहार, इन्हीं से भारत के समाज सुधार आंदोलन बने थे । स्पृश्य और अस्पृश्य जातियों ने अपने-अपने ढंग से इस समाज सुधार-आंदोलन को आगे बढ़ाया । आधुनिक भारत में फुले से शुरू होकर शाहूमहाराज, नारायण गुरू, पेरियार, गांधी और अंबेडकर तक भिन्न भिन्न तेवरों के साथ आज भी यह आंदोलन जारी है ।

.....

संदर्भ सूची -:

1. विपिनचंद्र- आधुनिक भारत, एन. सी. इ. आर. टी. 1990, पृ. 151
2. वही , पृ.सं. 152-153
3. रामविलास शर्मा-म.प्र. द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, प्रथम सं. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं. 358
4. प्रेमचंद-'ठाकुर का कुआं' मानसरोवर भाग - एक , साहित्य प्रकाशन, दिल्ली पृ.सं. 118
5. वही, पृ. 117
6. प्रेमचंद-'सवा सेर गेहू,' मानसरोवर भाग4, पृ. 167-168
7. वही, पृ.सं. 164
8. प्रेमचंद-'सद्गति,' मानसरोवर भाग 4, पृ.सं. 23
9. प्रेमचंद- 'गोदान'- पुनर्मुद्रण 1979, पृ.सं. 209
10. शिवकुमार मिश्र, प्रेमचंद:विरासत का सवाल, पीपुल्स लिटरेसी दिल्ली, प्र.सं. 1981, पृ.सं. 10
11. विपिनचंद्र - आधुनिक भारत, एन. सी. आर. टी. 1990, पृ. 177
12. वही, पृ.सं. 181
13. वही, पृ.सं. 182
14. वही, पृ.सं. 183
15. ए. आर. देसाई-भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन इंडिया लि मिटेड, अनु. प्रयाग दत्त त्रिपाठी, 1991, पृ.सं. 271

16. वही, 272
17. बिपिन चंद्र आधुनिक भारत, पृ.सं. 215
18. रजनीपाम दत्त आज का भारत, 1977, हिंदी अनुवाद आनंद स्वरूप शर्मा पृ.सं. 347
19. वही, पृ.सं. 347
20. बिपिनचंद्र - आधुनिक भारत, एन.सी.ई.आर.टी. 1980, पृ. 135
21. कांति मोहन - प्रेमचंद और अद्भुत समस्या, प्र.संस्करण जन सुलभ साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 1982, पृ.सं. 71
22. वही, पृ.सं. 71
23. पट्टाभि सीतारमैया - दि हिस्ट्री आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, 1935, पृ.सं. 280
24. ए.आर. देसाई- भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ. 278
25. वही, पृ.सं. 283
26. उद्धृत- ए.आर. देसाई ,, ,, ,प्र. 293
27. ,, ,, ,, पृ. 284
28. वही पृ.सं. 284
29. वही पृ.सं. 284-285
30. वही पृ.सं. 285
31. बिपिनचंद्र - आधुनिक भारत, पृ.सं. 206
32. वही पृ.सं. 206
33. ए.आर. देसाई-'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि'- पृ.सं. 287-288

34. बिपिनचंद्र - 'आधुनिक भारत'-एन सी. ई. आर. टी., 1990, पृ. 215
35. वही पृ. सं. 215
36. वही प. सं. 215
37. वही पृ. सं. 218
38. वही पृ. सं. 218
39. ए. आर. देसाई - 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि' पृ. सं. 293-294
40. वही पृ. सं. 173
41. डी. आर. गाडगिल - दि इंडस्ट्रियल इवोल्यूशन आफ इंडिया इन रीसेंट टाइम्स §1933§
उद्धृत - ए. आर. देसाई, पृ. 140
42. ए. आर. देसाई-भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि,' पृ. 141
43. वही पृ. सं. 142
44. उद्धृत - रेल्फ फॉक्स कलोनियल पालिसी आफ ब्रिटिश इंपीरियलिज्म §1933§ पृ. सं. 18
45. ए. आर. देसाई - 'भा. रा. की सा. पृ.', पृ. सं. 48
46. बिपिनचंद्र - 'आधुनिक भारत,' पृ. सं. 160-161
47. वही, पृ. सं. 161
48. ए. आर. देसाई - पृ. सं. 219
49. बिपिनचंद्र - 'आधुनिक भारत,' पृ. सं. 162

50. वीर भारत तलवार - किसान, राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद : 1928-22, नार्दर्न बुक सेंटर, नई दिल्ली प्र. संस्करण {1990} पृ. सं. 200-201

51. ओ, मेली "संपा. { माडर्न इंडिया ऐंड दि वेस्ट {1941{ उद्धृत - ए. आर. देसाई-"भारतीय रा. की. सा. पृ." पृ. सं. 220-221

52. ए. आर. देसाई - पृ. सं. 221

53. वहीं, पृ. सं. 212

54. वही, पृ. सं. 212

55. रिपोर्ट आफ दि डेलिगेशन सेंट टु इंडिया बाइ दि इंडियालीग इन 1832, पृ. सं. 136
उद्धृत - ए. आर. देसाई, पृ. सं. 213

56. गेल ओमवेट - "दलित विज़न" , ओरियंट लोंगमैन, प्रथम संस्करण पृ. सं. 34-35

.....

तीसरा अध्याय

प्रेमचंद की कथा-संवेदना

प्रेमचंद समाज व्यवस्था के हर पहलू से वाक़िफ़ थे । वर्ण-व्यवस्था की विकृतियों, छुआछूत एवं ऊँच-नीच की अमानवीय भावनाओं से उनका हृदय संवेदित था । आर्थिक विषमता तथा ग़रीबी के निर्मम प्रहारों से आहत समाज की अनुभूतियां उनके अन्तर्मन में समाहित थीं । वे रचना के ऐसे काल-बिन्दु पर खड़े थे, जहां अतीत नया अर्थ खोजता था और भविष्य अपना आधार । अनुभूतियों के ऐसे सर्जनात्मक क्षणों में संक्रमण की संवेदना को नकारना उनके लिए असम्भव था । आचार्य ह० प्र० द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' में लिखते हैं -'अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोंपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वालों से लेकर बैंकों तक, गांव से लेकर धारासभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता । आप बेसटके प्रेमचंद का हाथ पकड़ कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अंत:पुर में मान किए बैठी प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिक्षमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयेन्नों को, ईर्ष्या परायण प्रोफेसरों को, दुर्बल हृदय बैंकरों को, साहस परायण चमारिन को, ढोंगी पंडितों को, फ़रेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चिंत होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा वह ग़लत नहीं है । उससे अधिक सच्चाई से दिखा सकने वाले परिदर्शक को अभी हिन्दी-उर्दू की दुनिया नहीं जानती ।'[1]

प्रेमचंद के लिए साहित्य-रचना विलास नहीं था, विवशता थी ; भीतर की कुरेदन उन्हें अभिव्यक्ति के लिए मजबूर करती थी । वे कहते हैं --

'जब तक साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियां गा-गा कर सुलाना, केवल आंसू बहाकर जी हल्का करना था, तब तक उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी । वह एक दीवाना था जिसका गम दूसरे खाते थे ; मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते ।'[2]

'लेखक जो कुछ लिखता है, अपनी कुरेदन से लिखता है ।' और मेरे अन्दर जितनी कुरेदन-तड़पन पैदा होगी, उतना ही अच्छा है ।'[3]

प्रेमचंद का रचना-संसार समाज के ख़ौफ़नाक अंधेरे की यात्रा है । यह थके-हारे दलित, शोषित, उत्पीड़ित, निराश और दुखी लोगों का भयावह और अमानवीय संसार है । ख़ौफ़नाक भयावहता और अमानवीयता से उद्भूत कुरेदन-तड़पन की अनुभूति ने मानो प्रेमचंद की संवेदना के तार को झंकृत कर दिया हो । और इस झंकृति से उनकी लेखनी गतिमान हो उठी हो । प्रेमचंद कहते हैं कि 'मनुष्य की सहानुभूति साधारण स्थिति में तब तक जागरित नहीं होती, जब तक कि उसके लिए उस पर विशेष रूप से आघात न किया जाय । हमारे हृदय के अन्तरतम भाव साधारण दशाओं में आन्दोलित नहीं होते । इसके लिए ऐसी घटनाओं की कल्पना करनी होती है, जो हमारा दिल हिला दे, जो हमारे भावों की गहराई तक पहुंच जाय ।'[4]

अमृत राय लिखते हैं कि, 'आदमी के पास जीवन का व्यापक अनुभव हो और अपनी धरती से उसका संस्पर्श गहरा हो, यह संतुलित जीवन-दृष्टि

सहज ही मिल जाती है । प्रेमचंद के पास ये दोनों ही चीज़ें थीं।'

'पैंतीस वर्षों के विस्तार में फैला हुआ, उनका रचना-संसार अपने युग के जो देश के स्वाधीनता संग्राम का युग था, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक जीवन को उस युग के बोध और उसकी संवेदना को सांगोपांग रूपायित करता है ।'[5]

स्वयं प्रेमचंद कहते हैं कि 'जब हम देखते हैं कि हम भांति-भांति के राजनीतिक और सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दु:ख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण - क्रंदन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे ?'[6] वे आगे कहते हैं -'हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुज़रती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुंच कर साहित्य सृजन की प्रेरणा करती हैं । कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊंचे दर्जे की होती है ।'[7]

कलाकार या साहित्यकार अपनी सूक्ष्म प्रेक्षणशक्ति से मनुष्य की अनुभूतियों को अपनी अनुभूति बना लेता है और रचना-कौशल से पुन: उसे सब की अनुभूति का विषय बना देता है । प्रेमचंद ऐसे ही कुशल कथाकार हैं । 'उनमें अनुभव का दायरा जितना विस्तृत है, संवेदना का स्तर उतना ही गहन और सघन है । उनमें सुख-दु:खात्मक अनुभूति के अतिरिक्त मानवीय वेदना का सहभोक्तृत्व भी है । वे अपने पात्रों के साथ ऐसा तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं कि उनकी निजी अनुभूतियां पात्र की अनुभूतियां बन जाती हैं ।'[8]

प्रेमचंद जीवन की आलोचना को ही साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा मानते हैं - 'चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानी के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए ।'[9] वे 'साहित्य का उद्देश्य' में लिखते हैं कि --

'जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्याएं न हों, हमारी आत्मा के स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल जिन्सी भावों में गुदगुदी पैदा करने के लिए या भाषा चातुरी दिखाने के लिए रचा गया हो, वह निर्जीव साहित्य है, सत्यहीन-प्राणहीन है ।'[10]

राजेन्द्र यादव कथाकार की संवेदना और दृष्टि को उसके सरोकारों से जोड़ कर देखते हैं । वे कहते हैं कि 'जो चीज परम्परा और विरासत के रूप में विकसित होती है, वह है कथाकार की संवेदना और दृष्टि उसके सरोकार अपने कथ्य के साथ उसकी संबद्धताएं । यही कारण है जो एक थीम, एक पात्र या कथ्य पर लिखने वाले दो लेखकों को अलग कर देता है ।'[11]

प्रेमचंद स्वयं भी कहते हैं कि 'साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं ।'[12] 'साहित्य का उद्देश्य' में वे लिखते हैं कि साहित्यकार या कलाकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है । अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता । उसे अपने अंदर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी । इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है । अपनी कल्पना में

वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती । इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है । वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अंत कर देना चाहता है, जिससे दुनिया में जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय । यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है । उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर कष्ट भोगता रहे ? क्यों नऐसे सामान इकट्ठे किये जायं कि वह गुलामी और ग़रीबी से छुटकारा पा जाय ? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसका रचना में जोर और सचाई पैदा होती है । अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात में व्यक्त करता है, वही उसकी कला-कुशलता का रहस्य है ।'[13]

सामाजिक वेदना का बेचैनी के साथ किया गया अनुभव ही संवेदना है । अर्थात् अनुभूति की परिणति ही संवेदना के रूप में होती है या फिर 'प्रेमचंद के मानसिक मानस-दर्पण में मानव-जीवन के विविध संदर्भ, विविध परिस्थितियां यथावत् बिंबित हो जाती थीं । उनकी दृष्टि पारदर्शी थी, जिसमें समाज और व्यक्ति के बाह्य चित्र ही नहीं अन्तःचित्र भी दृश्य हो जाते थे यही कारण है कि वे जीवन के स्थूल से स्थूल, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम कार्य-व्यापारों तथा मानवीय वृत्तियों को रचना के माध्यम से वस्तु यथार्थ की अपेक्षा अधिक रोचक ढंग से प्रस्तुत कर सके । कथा के मूल में उनकी प्रामाणिक अनुभूतियां हैं, जो कल्पना से रंजित होकर अभिव्यक्त हुई हैं ।'[14] प्रेमचंद का स्वयं का कथन है कि 'वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है । उसमें कल्पना की मात्रा कम अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है । इतना ही नहीं, बल्कि अनुभूतियां ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं ।'[15]

जीवन में सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम, कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता । कथा साहित्य में इसकेविपरीत उनका एक निश्चित क्रम होता है, हर घटना का निश्चित कारण होता है । 'अनुभूतियों को आकार देने के लिए कल्पना का सहारा लिया जाता है । सर्जनात्मक प्रक्रिया से गुजार कर वैयक्तिक सीमाओं से अतिक्रमित करके उनका साधारणीकरण किया जाता है जिससेवे सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो जाती है । प्रेमचंद की यथार्थ जीवन अनुभूतियां इसी तरह सर्जनात्मक अनुभूतियों के रूप में परिवर्तित हुई हैं ।'[16]

प्रेमचंद का अनुभव-संसार बहु-आयामी था । उन्होंने अपने समय के ज्वलंत प्रश्नों और समस्याओं का आकलन करके लोक चेतना को जगाया । डा० रामविलास शर्मा, 'प्रेमचंद और उनका युग' में लिखते हैं कि 'उनका उद्देश्य सामाजिकता और देशकाल की सीमाओं से परे नहीं था । उन का साहित्य सामाजिकता की सतह को छूने वाला साहित्य नहीं था, उसमें गहराई से डूबने वाला, देशकाल की सीमाओं के परस्पर सम्बन्ध को चित्रित करने वाला साहित्य था । इसीलिए वह इतना सशक्त और प्रभावशाली है ।'[17]

शिवकुमार मिश्र 'प्रेमचंद : विरासत का सवाल' में लिखते हैं कि 'देश की गुलामी हो या उसकी अकथनीय दरिद्रता, सामाजिक वैषम्य हो अथवा मनुष्य सत्य का अपमान, बृहत्त सामाजिक अन्याय की विधायक शक्तियों पर कठोर प्रहार करते हुए मिसालविरल ही है । वे हिन्दी के पहले कथाकार हैं, जिन्होंने सामंती तथा अभिजात मानसिकता को तार-तार करते हुए सड़क के साधारण आदमी को कथानायक का गौरव प्रदान किया । और इस प्रकार हिन्दी कथा साहित्य में यथार्थ की एक नई परम्परा की बुनियाद रखी ।'

'ज़ाहिर है कि हिन्दी कथा-साहित्य को ज़िंदगी के यथार्थ के ठीक आमने-सामने खड़ा कर सकने की इस उपलब्धि के पीछे एक अत्यंत कठोर पृष्ठभूमि साहित्य साधना निहित है । यह तथा दूसरी तमाम उपलब्धियां प्रेमचंद को एक बारगी ही नहीं हुईं , इनके पीछे आत्म मंथन का, आत्म-संघर्ष का, एक सजीव और मार्मिक आख्यान है जिससे परिचित हुए बिना इनके महत्व का सही अनुमान नहीं किया जा सकता । आत्म संघर्ष के अलावा इनके पीछे बाहरी दुनिया के ज़बर्दस्त दबावों का एक लम्बा सिलसिला भी है, जिसे आजीवन प्रेमचंद ने झेला है । बाह्य संघर्ष और आत्म संघर्ष के इन पाटों के बीच से ही प्रेमचंद का रचनाकार-व्यक्तित्व न केवल निखरा है, वह निरन्तर विकसित भी होता गया है । ... प्रेमचंद के कृतित्व से सम्बन्ध रखनेवाले आदर्श और यथार्थ के सवाल पर जिसे अपनी नेकनियती के तहत आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का नाम देकर मुंशी जी ने खुद उलझा दिया है, कोई भी अंतिम निर्णय लेने सेपहले हमें उनके व्यक्ति और रचना-कार के द्वन्द्व पर दृष्टिपात करना होगा, अन्यथा इस मुद्दे पर हम जो भी निर्णय देंगे, वे अधूरे, गलत और एकांगी निर्णय होंगे ।'[18]

प्रेमचंद की कथा-संवेदना को समझने के लिए यथार्थ, आदर्श और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को समझना अपरिहार्य है । राजेश्वर गुरु के शब्दों में कहें तो 'जो है, वह यथार्थ है, जो होना चाहिए वह आदर्श । जो कुछ है, उसे बूझकर स्वीकार करके, जो कुछ होना चाहिए, उसकी कल्पना संजो कर उसकी उपलब्धि केलिए साधना करना जीवन का धर्म है । यथार्थ हमारे ज्ञान के परिणामस्वरूप है, आदर्श हमारी कल्पना में जन्म लेता है। यथार्थ एवं आदर्श के कोई नितांत स्थिर, स्थायी एवं पूर्ण निरपेक्ष रूप नहीं हैं । बोध विकास के साथ चेतना में यथार्थ का स्वरूप विकसित होता है और अनुभव उसकी रेखाओं को सुस्पष्टता प्रदान करता है । इसी प्रकार इच्छाओं के विभिन्न योगों से कल्पना में आदर्श के विभिन्न रूप संगठित

होते हैं। ... ... यथार्थ का ज्ञान और आदर्श की कल्पना दोनों देश और काल, वैयक्तिकता एवं सामाजिकता पर निर्भर रहते हैं।'

आगे लिखते हैं कि 'मानव जीवन यथार्थबोध और आदर्श कल्पना से परिचालित एवं विकसित होता आया है। आदर्श और यथार्थ की स्थिति मानव-जीवन के प्रसंग में वैसी ही है जैसी दुकूलिनी के प्रसंग में दोनों तटों की। इस ओर का किनारा, जो प्राप्त है, यथार्थ है, उस ओर का किनारा आदर्श है, जिस तक पहुंचना अभीष्ट है।'[19]

'साहित्य के क्षेत्र में आदर्शवाद उस कल्पनाप्रसूत अभिव्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसमें अस्तित्व की पूर्णता की धारणा निहित ही रहती है और यथार्थवाद, वस्तु का जैसा है, वैसा वास्तविक चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। आदर्श और यथार्थ के इन दो छोरों के बीच की समस्त स्थिति आदर्शोन्मुख या यथार्थोन्मुख आदर्शवाद है जो एक या दूसरी स्थिति की अति के लिए ब्रेक का काम करती है।'[20]

आदर्श एवं यथार्थ के सम्बन्ध में विस्तार से विचार करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है कि 'यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ़ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है।'[21]

आदर्शवाद की उपयोगिता को बताते हुए वे उदाहरण देते हैं कि 'अंधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं, तब इच्छा होती है कि किसी बाग़ में निकल कर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठायें। इसी

कमी को आदर्शवाद पूरा करता है ।"[22] वे आगे कहते हैं कि "यथार्थवाद हमारी आखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुंचा देता है । जहां यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो । उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं ।"[23] वे मानते हैं कि आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए । उनका यह भी विश्वास है कि नग्न-यथार्थ पुलिस की रिपोर्ट भर हो जाता है । नग्न-आदर्श प्लेटफार्म का फ़तवा है ।

'राजेश्वर गुरु' के शब्दों में, "प्रेमचंद ने आदर्श एवं यथार्थ के सम्बन्ध में तार्किक प्रणाली से नहीं, अनुभव के आधार पर सोचा है।"[24]

आदर्श और यथार्थ के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने विस्तार से विचार किया है और किसी बंधी-बंधायी विचार प्रणाली के साथ अपने को जोड़ लेने के बजाय अपने लिए स्वतंत्र मार्ग का निर्धारण किया है ।उनके आदर्श एवं यथार्थ तथा आदर्शोन्मुख यथार्थवाद सम्बन्धी विचारों के सम्बन्ध में हिंदी के अनेक आलोचकों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं । कुछ प्रेमचंद को आदर्श-वादी मानते हैं, कुछ यथार्थवादी, कुछ उनके आदर्शोन्मुख यथाथवाद को नकारना चाहते हैं । प्रेमचंद के अपने वक्तव्यों के प्रकाश में इन मत-मतान्तरों पर विचार करना उचित होगा ।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है -"कोई कलाकार या तो यथार्थवादी हो सकता है या आदर्शवादी ही । ये दोनों परस्पर-विरोधी विचारधाराएं और कला-शैलियां हैं । इनका मिश्रण किसी एक रचना में संभव नहीं । साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती ।... आदर्श और यथार्थ को मिलाने वाला कोई पृथकवाद नहीं है । यह तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि दो परस्पर-विरोधी जीवन-दर्शनों और कला-परिपाटियों में एकत्व की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ?' ... आगे लिखते हैं, 'वास्तव में प्रेमचंद जी अपने विचार और लेखन में आदर्शवादी हैं । आपका चरित्र-निर्माण और मनोवैज्ञानिक चित्रण आदर्शवादी है । आदर्शवादी चित्रण से तात्पर्य है, मानव की सद्वृत्तियों पर विश्वास रख कर साहित्य-निर्माण करना । उनकी समस्त साहित्यिक कृतियों को देखकर ही हम ऐसा कहते हैं ।'[25]

डा० रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद के यथार्थवाद का विशद विवेचन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'प्रेमचंद का आदर्शवाद उनकी कृतियों के एक ही पहलू को दिखाता है, वह है समस्या से एक सुन्दर परिणाम निकालने वाला । परन्तु उनके अन्तर में बसा हुआ यथार्थवादी समस्या की जटिलता चित्रित करने में बहुत कम मेल-मुलाहिजा करता है । जहां उनका आदर्शवाद दब गया और उन्होंने बरबस परिणाम ढूंढने का प्रयत्न नहीं किया, या समस्या को ही सामने रख कर संतोष कर लिया है, वहां वे अद्वितीय हैं ।'[26]

जैनेन्द्र कुमार ने अपनी दार्शनिक शैली में लिखा है - 'मैं मानता हूं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रेमचंद पहले प्रणेता हैं, जो यत्नपूर्वक यथार्थता के दबाव से बचने के लिए रोमांस की गली में भूल कर मौज करने नहीं गये । रोमांस को उन्होंने छोड़ ही दिया, सो बात नहीं । उस अर्थ में रोमांस कभी छूटता है ? कोई लेखक कल्पना को कैसे छोड़ सकता है ? कल्पना बिना लेखक क्या ? लेकिन अपने हृद्गत रोमांस को उन्होंने व्यवहार पर, वास्तव पर घटा कर देखा और दिखाया । उनके साहित्य की खूबी यह नहीं है कि

उनका आदर्श अंतिम है अथवा सर्वथा स्वर्गीय है । उसकी विशेषता तो यह है कि उस आदर्श के साथ व्यवहार का असामंजस्य नहीं है । वह आदर्श स्वयं में कम ऊंचा है कि वह नीचे वालों को ऊपर उठा कर उनके साथ-साथ रहना चाहता है । इस समन्वय की पुष्टता के कारण वह पुष्ट है ।'[27]

इन उद्धरणों को सामने रखकर हमें प्रेमचंद के इस सम्बन्ध में विचारों को जानकर इनका महत्व स्थिर करना है । राजेश्वर गुरु के शब्दों में, 'आदर्श वाद और यथार्थवाद दो विचारधाराएं और कला-शक्तियां हैं । यथार्थवाद जीवन को उसके वास्तविक स्वरूप में ग्रहण करता है । यथार्थवादी कलाकार नितान्त तटस्थ होकर जीवन की गतिविधियों को देखता है और जैसा देखता है, वैसा ही, बिना अपने राग-विराग का उन पर आरोप किये हुए, चित्रित कर देता है। यथार्थवाद का प्रकृत-स्वरूप यही है । किन्तु इसमें विकृति आ तब जाती है, जब यथार्थवादी या तो मार्क्स या फ्रायड की शरण में जाकर जीवन को उसके प्रवृत्त रूप में नहीं, इनके चश्मों की रंगीनी में से देखना चाहता है, या प्रकृतवादियों की भांति जीवन के दुर्बल पक्षों तक ही अपने को सीमित कर लेता है ।' ... विशुद्ध यथार्थवाद तक अपने को सीमित रखकर प्रेमचंद ने उसकी 'अतियों' से अपने को यथासंभव बचाया है । अतिग्रस्त यथार्थ को प्रेमचंद ने नग्न यथार्थवाद की संज्ञा दी है । इसी प्रकार आदर्शवाद जीवन को उसके स्वरूप में नहीं देखता, उस पर अपनी कल्पना, भावना या धारणा का आरोप करके देखता है । ... आदर्श, यथार्थ के अभावों को भावमयता प्रदान करता है ।'[28]

प्रेमचंद ने एक स्थान पर कहा है कि मैं यथार्थवादी नहीं हूं और जगह-जगह यह ध्वनि व्यक्त की है कि मैं आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हूं । पहले कथन से संकेत है कि मैं वैसा यथार्थवादी नहीं हूं, जैसा 'अतियों' में मिलता

है । हां, वैसा हूं, जो यथार्थ के अभावों को अपने ढंग से 'भाव' प्रदान कर सके ।[29]

साहित्य में यथार्थ की एक समझ वह है जिसे दर्पणवादी दृष्टिकोण कहा जाता है । समाज जैसा है उसको वैसा ही दिखाना साहित्य का काम है - इस दृष्टिकोण का मूल मन्तव्य है । अगर साहित्य का काम महज समाज को शब्दों में जस का तस प्रस्तुत कर देना है तो फिर उसकी भूमिका अत्यन्त सीमित है । साहित्य दरअसल बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप में न होकर राह दिखाने का भी काम करता है, वह दृष्टि भी प्रदान करता है क्योंकि उसके सृजन के पीछे कोई न कोई दृष्टि सक्रिय हुआ करती है ।

राजेश्वर गुरु इन तमाम विश्लेषणों के बाद अपना निष्कर्ष इस रूप में देते हैं -- 'अब सोचता यह है कि उनका जोर आदर्श और यथार्थ में से किस पर अधिक है । आदर्शोन्मुख की चर्चा के कारण जान पड़ता है कि प्रधानत: वे यथार्थ पर दृष्टि रखते हैं । यथार्थ को जीवन और समाज पोषी बनाने के लिए वे आदर्शों का संकेत करते चलते हैं । युग की विभिन्न वृत्तियां और विचारधाराओं के प्रभाव में वे यथार्थ के परिष्कार के लिए कुछ विशिष्ट सुझाव देते चलते हैं, लेकिन एक स्थिति ऐसी आ जाती है जब वे इन आदर्शों की 'अवास्तविकता' समझ जाते हैं और फिर इनके साथ उनका संपर्क छूट जाता है ।'[30]

कहा जाता है कि प्रेमचंद की प्रारम्भिक रचनाओं में गांधीवाद का प्रभाव दिखता है और परवर्ती रचनाओं में बहुत हद तक मार्क्सवाद का प्रभाव झलकता है । प्रेमचंद किस हद तक वादों से प्रभावित थे इसकी पड़ताल की जानी चाहिए । उन्होंने कहा है, 'मैं गांधीवादी नहीं हूं । मैं गांधी जी के 'चेंज आफ हार्ट' में विश्वास करता हूं ।'[31] मार्क्सवादी दृष्टिकोण

पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं - 'मैं कम्युनिस्ट हूं । किन्तु मेरा 'कम्युनिज़्म' केवल यही है कि हमारे देश के ज़मींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें ।'[32]

प्रेमचंद की रचनाओं में जिस प्रकार की संवेदना को जगाया गया है, उसको स्पष्ट करते हुए डा० रामदरश मिश्र कहते हैं, 'वे किसी वाद की एकांगिता से पीड़ित न होकर अपने पूरे युग और समाज को उसकी पूरी जटिल वास्तविकता के साथ पकड़ लेना चाहते थे । इसीलिए एक ओर वे सामाजिक यथार्थ को उसके विविध स्वरूपों में प्रस्तुत कर रहे थे, दूसरी ओर विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों और संस्कारों में पले व्यक्तियों की मानसिक गहराइयों में पैठ कर मनःसत्यों को उद्घाटित कर रहे थे ।'[33]

शिवकुमार मिश्र, 'प्रेमचन्द : विरासत का सवाल' में संकलित लेख 'सुधारवाद से आमूल सामाजिक बदलाव तक' में लिखते हैं, 'जहां तक समस्याओं को पहचानने, और उनके स्रोत तक पहुंचने का सवाल है, वे ग़लती नहीं करते, उन्हें सामाजिक यथार्थ की सम्पूर्ण संगति में प्रस्तुत करते हैं परन्तु जरूरत न होते हुए भी जब वे उनके निदान की बात करते हैं, मनुष्य की नेकनीयती, उसकी सद्वृत्तियों पर अपनी मूलभूत आस्था के तहत वे अपनी इसी सोच को सामने रखते हैं कि यदि मनुष्य को सुधारा जा सके, उसकी सद्वृत्तियों को उभारा जा सके, तो बहुत सारी समस्याओं का समाधान मिल जाएगा । उनके चिंतन की यह असंगति अविश्वसनीय और अस्वाभाविक समाधानों के साथ उनकी कृतियों में आती है, परन्तु इसे संस्कार कहिए, मुंशी जी की अपनी नेकनीयती कहिए, उनकी सद्इच्छा कहिए, वे अपने इस भाववादी चिंतनसे मुक्त नहीं हो पाते । उन्हें समाज के रोग की और उसके कारणों की सही पहचान

है, किन्तु जब उपचार की बात आती है, उनकी सोच बरबस इनकी उपेक्षा करते हुए आरोपित और अयथार्थवादी हो उठती है । प्रेमचंद का मोटे तौर पर सन् 1930-31 तक का कृतित्व उनकी इसी सोच से परिचालित है - ... जबकि सामाजिक यथार्थ का अपना दबाव उनकी सोच को अनुकूलित करने में सफल सिद्ध हुआ है और समस्या के समाधान का अतिरिक्त मोह छोड़ते हुए प्रेमचंद समस्या को अथवा वास्तविकताको उभार कर ही अलग हो गए हैं ।[34]

प्रेमचंद के आदर्श और यथार्थ को उनकी दलित विषयक या दलित संवेदना से जुड़ी हुई कहानियों के संदर्भ में समझें तो स्थिति और स्पष्ट हो जाएगी । उदाहरण के तौर पर - 'सद्गति' और 'सवा सेर गेहूं' में प्रेमचंद क्या आदर्श स्थापित कर सकते थे ? क्या यह आदर्श स्थापित करते कि ब्राह्मण का हृदय-परिवर्तन हो गया है और शंकर कुर्मी या दुखी चमार तथा ब्राह्मण गलबहियां डाले घूमने लगे ? जो कि बिलकुल अवास्तविक लगता । जैसे सद्गति में आदर्शवाद लाने के लिए इतनी ही गुंजाइश हो सकती है कि दुखी चमार से काम तो खूब लिया जाय, लेकिन थोड़ा खाना वगैरह मिल जाय, जिससे काम-करते करते भले ही थक जाये, पसीने-पसीने हो जाय, खून सूख जाय, लेकिन मरने न पाए । प्रेमचंद ने जहां समाज की पीड़ाजनित सच्चाई को यथार्थपरक ढंग से जस का तस रख दिया है वहां वे कथा-संवेदना के शीर्ष पर पहुंचे हुए प्रतीत होते हैं । इससे ये तात्पर्य नहीं निकाला जाना चाहिए कि प्रेमचंद का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद बिलकुल ही संवेदना रहित है । प्रेमचंद मानव-जगत और जीवन की समस्त स्थितियों, परिस्थितियों, और समस्याओं को आनुभूतिक बना कर कथा-संवेदना के रूप में अभिव्यक्त करते हैं । सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि सभी पहलुओं पर उनकी संवेदना का मर्मस्पर्शी स्वर मुखरित हुआ है ।

'मूल्यगत द्वन्द्वों, सामाजिक संघर्षों, आर्थिक प्रहारों से आहत मनुष्य की संवेदनाएं प्रेमचंद की कहानियों में अनेक रूपों में मार्मिक ढंग से उभरती हैं। विविध समस्याओं के समग्र तनाव में ही कहानियों का मर्म उद्घाटित होता है। उन्हें मोटे तौर से खानाबद्ध नहीं किया जा सकता। मूल्यगत संक्रमण तथा तनाव को लेकर रची गई कहानी 'मां' की संवेदना अनुभव के अनेक स्तरों को संस्पर्शित करके मर्म बेधक बन जाती है।'[35]

'मां' नामक कहानी में मां की मूल संवेदना वात्सल्य के आदर्शों से उद्भूत होती हुई भी स्वाधीनता आन्दोलन की पृष्ठभूमि से अनिवार्यतः जुड़ी है। मनुष्य की अनुभूति कितनी ही विशिष्ट हो किन्तु निरपेक्ष नहीं हो सकती। 'मां' पहले नारी है। नारी के रूप में उसकी आकांक्षा उसकी प्रेमानुभूति तथा उसकी आस्थाएं भी हैं। एक तरफ स्थायी भाव शुद्ध प्रेम है दूसरी तरफ मूल्यगत मान्यताएं। ऐसी मान्यताएं जो पति के त्याग और उसके सिन्दूर धुल जाने के बाद निर्मित हुईं।

मजिस्ट्रेट के अन्यायपूर्ण न्याय से उसके पति ने दम तोड़ दिया, उसी तरह का जज बनने उसका बेटा इंग्लैण्ड जा रहा है। प्रेमचंद इस मार्मिकता को इस प्रकार अंकित करते हैं --'जैसे किसी लाश को बाहर निकालते समय संबंधियों का धैर्य छूट जाता है, रुके हुए आंसू निकल पड़ते हैं और शोक की तरंगें उठने लगती हैं, वही दशा करुणा की हुई। कलेजे में एक हाहाकार हुआ, जिसने उसकी दुर्बल आत्मा के अणु को कंपा दिया।'[36] 'अपने आदर्शों के लिए तपती भारतीय नारी की संवेदना द्वन्द्वात्मक स्थितियों में साकार होती है। आक्रोश और ममत्व की भाव-संधियों और भावों की टकराहट के भयावह स्वर से मस्तिष्क के अनुशासन तथा बंधन एकदम ढीले हो जाते हैं। यही मनुष्य की उन्मत्तावस्था है। पुत्र के पत्र को फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर

देना, फिर उसे जोड़ने का उपक्रम मां के भावावेग की चरम-सीमा है। हृदय की घातक मनोवेदना का अंतिम दृश्य पत्र के जलकर राख में परिवर्तित होने में दीखता है। एक चुटकी राख में उसका गुड़ियों वाला बचपन, उसका संतप्त यौवन और उसका तृष्णामय वैधव्य समा गया। स्वतंत्रता संग्राम के नितांत यथार्थ पहलू से उठ कर कहानी अंत तक नारी की वियोग-कथा, त्याग, वात्सल्य आदि भावों को गहराई से उद्घाटित करती है।[37]

प्रेमचंद के 'चेंज आफ हार्ट' की संवेदना से संपृक्त कहानी 'घासवाली' में इज़्ज़त और ग़रीबी के विरोधाभास में फंसी एक दलित स्त्री के अनुपम सौन्दर्य की विवशता तथा घुटन से पूरी कहानी नितान्त संवेदनशील मोड़ पर आ जाती है - 'किसी को चाम नहीं प्यारा होता, काम प्यारा होता है। तू बड़ी सुन्दर है, तो तेरी सुन्दरता लेकर चाटूं ? उठा फावा और घास ला।'[38] प्रेमचंद मार्मिक परिस्थितियों की जीवंत पहचान रखते हैं। उनकी कथा संवेदना उन सारी परिस्थितियों को साकार कर देती है। सौन्दर्य में झिलमिलाती इज़्ज़त की नितांत कमज़ोर हाथों से रक्षा का दायित्व लेकर एक दलित स्त्री भय और शंका से ग्रस्त रास्ते से घास छिलने जा रही है। उसकी भावानुभूतियों को प्रेमचंद इन शब्दों में अंकित करते हैं -- 'बार-बार सतर्क आंखों से इधर-उधर ताकती जाती थी। दोनों तरफ़ ऊख के खेत खड़े थे। ज़रा भी खड़खड़ाहट होती, उसका जी सन्न हो जाता।'[39] 'श्रम के शोषण का शिकार दलित भूखा रह सकता था, काम में थोड़ी सी चूक होने पर मार खा सकता था, लेकिन इज़्ज़त पर आंच आते देख उसका लहू खौल पड़ता था।'[40] मुलिया के इस बेबाक कथन में दलित (स्त्री) का आक्रोश मुखरित हुआ है - 'क्या समझते हो कि महावीर चमार हैं, तो उसकी देह में लहू नहीं है ? उसे लज्जा नहीं है, अपनी मर्यादा का विचार नहीं है !... मुझसे दया मांगते हो, इसलिए न कि मैं चमारिन हूं ... ।'[41]

प्रेमचंद की कथा-संवेदना का केन्द्रीकरण दलित के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा की अनुभूतियों में दिखाई देता है । घोर यथार्थपरक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करते समय वे अपने आदर्शवादी सिद्धान्तों को भूल जाते हैं । किसी समस्या के अत्यन्त नाजुक पहलू के माध्यम से वे उच्च वर्ण की क्रूरता को कुरेद कर रख देते हैं । 'ठाकुर का कुआं ' में जोखू की आंतरिक पीड़ा को अति संवेदनशील कलाकार के सिवाय कौन समझ सकता है । 'ग़रीबी का दर्द कौन समझता है । हम तो मर भी जाते हैं, तो कोई दुआर पर झांकने नहीं आता, कंधा देना तो बड़ी बात है । ऐसे लोग कुएं से पानी भरने देंगे ?'

'सद्गति' कहानी में प्रेमचंद ने स्वभावत: पंडित और पंडिताइन में धर्म के मानवीय तत्वों को ढूंढ़ने का प्रयास किया है । पहले-पहल पंडिताइन को चमार के घर में प्रवेश करने पर ही आपत्ति थी, उसमें धर्म अधिक कठोरता से समाया हुआ था । बाद में उसे दया आई । उसने चाहा कि बची रोटियां लकड़ी चीरते दुखी चमार को दे दे । लेकिन पंडित कहता है, 'दो-चार रोटियों से क्या होगा ? चमार है, कम-से-कम सेर भर चढ़ा जाएगा ।'[42] पंडित भी अंत: थोड़ा पसीज कर आग्रह करता है - 'कुछ भूसी चोकर हो तो आटे में मिला कर दो - दो लिट्ठी ठोक दो । साले का पेट भर जाएगा ।' तब पंडिताइन की दया सहसा बुझ जाती है - 'अब जाने भी दो, धूप में कौन मरे ।'[43] जब चमारिनें (दलित स्त्रियां) दुखी चमार की लाश पर रोती-पीटती हैं, तो संवेदनहीनता के चरम-बिन्दु तक पहुंची पंडिताइन कहती है, 'इन डाइनों ने तो खोपड़ी चाट डाली । सबों का गला भी नहीं थकता ।'[44] 'धर्म व्यवस्था से जकड़ी स्त्री स्त्री-सुलभ गुण भी खो देती है, वह स्त्री नहीं रह जाती ।'[45]

'व्यंग्य को संवेदनात्मक प्रगाढ़ता देने के लिए प्रेमचंद अक्सर उसे करुणारेखी बनाकर भी प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि 'पूस की रात' और 'कफन' में देखा जा सकता है ।'[46]

'पूस की रात' की मार्मिक वेदना एक ग़रीब किसान के मज़दूर में परिणत हो जाने की विवशता में निहित है । जानलेवा ठंड से बचने के लिए बदबू करते कुत्ते को सीने से लगाने का दृश्य कथाकार की सूक्ष्म पर्यवेक्षण क्षमता तथा गहन-अनुभूति को ही प्रमाणित करता है ।'[47]

'कफ़न' में घीसू और माधव ने मृत बुधिया के कफ़न के नाम पर 'पांच रुपये की अच्छी रकम' महज़ एक घण्टे में जमा करली और अब उनका वार्तालाप गौरतलब है - 'कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते-जी तन ढांकने का चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए ।'

'कफ़न लाश के साथ जल ही तो जाता है ।'

'और क्या रखा रहता है ? यही पांच रुपये पहले मिलते, तो कुछ दवा-दारू कर लेते ।'[48]

इस वार्तालाप में व्यंग्य की करुणार्द्रता स्पष्ट है, लेकिन उससे क्षोभ का विलीनीकरण नहीं होता, बल्कि क्षोभ की संवेदना और गहरी होती है । व्यंग्य और करुणा का तनाव एक ऐसे प्रभाव की सृष्टि करता है जो क्षोभ और आक्रोश के घेरे में केवल एक रिवाज को ही नहीं, बल्कि पूरी व्यवस्था को लाता है ।

प्रेमचंद के कथा-संसार में मानवीय संवेदनाओं का व्यापक और गहरा विस्तार है । समाज के स्थूल घटना चक्रों के अन्तराल में सुषुप्त जन-आकांक्षा तथा जिजीविषा ही उनकी हर कहानी में विविध रूप-रंगों में उभरती है ।

संदर्भ सूची

1. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी -`हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास` राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1992, पृ० 229
2. प्रेमचंद -`साहित्य का उद्देश्य`, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद नवीन संस्करण : अक्तूबर 1983, पृ० 26
3. उद्धृत - राजेश्वर गुरु (सं०) - गोदान, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति : 1985, पृ० 11
4. प्रेमचंद - `साहित्य का उद्देश्य`, पृ० 75-76
5. अमृतराय - `प्रेमचंद - परिचर्चा ` उद्धृत - प्रेमचंद परिचर्चा सं० कल्याणमल लोढ़ा/रामनाथ तिवारी लोकभारती प्रकाशन, इला० हाबाद, प्रेमचंद शताब्दी, 1979-80, पृ० 22-23
6. प्रेमचंद -`साहित्य का उद्देश्य`, पृ० 65
7. वही, पृ० 13
8. डा० रामकिशोर शर्मा - `प्रेमचंद की कहानियां : संवेदना और शिल्प विद्या प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम आवृत्ति, 1984, पृ० 31
9. प्रेमचंद -`साहित्य का उद्देश्य`, पृ० 10
10. वही, पृ० 146
11. राजेन्द्र यादव -`प्रेमचंद की विरासत : विषय या दृष्टि ?` उद्धृत - प्रेमचंद परिचर्चा - सं० कल्याणमल लोढ़ा/रामनाथ तिवारी, पृ० 24
12. प्रेमचंद -`साहित्य का उद्देश्य`, पृ० 12
13. वही, पृ० 17
14. डा० रामकिशोर शर्मा -`प्रेमचंद की कहानियां : संवेदना और शिल्प`, पृ० 10

15. प्रेमचंद -`साहित्य का उद्देश्य`, पृ० 47
16. डा० रामकिशोर शर्मा - `प्रेमचंद की कहानियां :संवेदना और शिल्प, पृ० 11
17. डा० रामविलास शर्मा -`प्रेमचंद और उनका युग`, पृ० 152 राजकमल प्रकाशन
18. डा० शिवकुमार मिश्र -`प्रेमचंद : विरासत का सवाल`, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981, पृ० 19
19. राजेश्वर गुरु (सं०),`गोदान`, पृ० 19
20. वही, पृ० 19-20
21. प्रेमचंद -`साहित्य का उद्देश्य`, पृ० 62
22. वही, पृ० 62-63
23. वही, पृ० 63
24. राजेश्वर गुरु (सं०), `गोदान`, पृ० 23
25. उद्धृत - राजेश्वर गुरु (सं०) `गोदान`, पृ० 24
26. डा० रामविलास शर्मा -`प्रेमचंद`, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण : 1994, पृ० 47
27. उद्धृत - राजेश्वर गुरु (सं०), `गोदान`, पृ० 24-25
28. वही, पृ० 25
29. उद्धृत - वही, पृ० 26
30. वही, पृ० 26
31. उद्धृत - डा० रामदरश मिश्र/डा० ज्ञान चंद गुप्त (सं०) - `कथाकार प्रेमचंद`, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1982, पृ० 71
32. उद्धृत, वही, पृ० 71
33. उद्धृत, वही, पृ० 71
34. डा० शिवकुमार मिश्र -`प्रेमचंद : विरासत का सवाल, पृ० 20

35. डा० रामकिशोर शर्मा - `प्रेमचंद की कहानियां : संवेदना और शिल्प, पृ० 11

36. प्रेमचंद - `मां` (कहानी), संकलित - मानसरोवर, भाग 1 साहित्य प्रकाशन, मालीवाड़ा, दिल्ली, 1991, पृ० 38-39

37. डा० रामकिशोर शर्मा, पृ० 12

38. प्रेमचंद - `घासवाली ` (कहानी) - मानसरोवर, भाग 1, पृ० 260

39. वही, पृ० 260

40. डा० रामकिशोर शर्मा, पृ० 13

41. `घासवाली` (कहानी) - मानसरोवर, भाग 1, पृ० 261-62

42. `सद्गति` (कहानी) - मानसरोवर, भाग 4, पृ० 19

43. वही, पृ० 18-20

44. वही, पृ० 22

45. उद्धृत - डा० राजेन्द्र कुमार (सं०) -प्रेमचंद की कहानियां, परिदृश्य और परिप्रेक्ष्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1993, पृ० 60

46. वही, पृ० 166

47. डा० रामकिशोर शर्मा - पृ०15

48. `कफन` - सं० प्रेमचंद की प्रतिनिधि कहानियां, राजकमल प्रकाशन, 1995, पृ० 136

चौथा अध्याय

प्रेमचंद की कहानियों में दलित जीवन

प्रेमचंद की कहानियों में विन्यस्त दलित-जीवन उनकी अनुभूति, संवेदना, कथा-दृष्टि और भाषिक संरचना के कारण विशिष्ट और विश्वस्त बनता है। वे दलित जीवन की समस्याओं तथा दलित की पीड़ा एवं उसकी आशाओं-आकांक्षाओं को जिस शिद्दत और संवेदनशीलता से उघाड़ते हैं, उससे बरबस ही उनके युगबोध की ओर ध्यान खिंचा चला जाता है - जहां से वे संवेदना और दृष्टि अर्जित करते हैं। डा० शिवकुमार मिश्र के शब्दों में कहें तो 'वे खुली आंखों से बाहर के संसार को देखते और ग्रहण करते थे। उन्होंने अपने मन के कपाट बाहर की रोशनी के लिए कभी बंद नहीं किए। समूचा मानव-जीवन उनके लिए खुली पुस्तक के समान था। आसपास के परिवेश के अतिरिक्त वे आगे के प्रसारसे भी अधिकाधिक संपृक्त थे। ... जितना नजदीक से, जितनी गहराई से उन्होंने ग्रामीण जीवन को देखा था, नागरिक जीवन की विषमताओं से भी वे उतना ही वाक़िफ़ थे। नगरों तथा ग्रामों में ईमानदारी से श्रम करते हुए, फिर भूख से तड़पते तथा एक अच्छे जीवन के लिए संघर्ष करती मानवता भी उन्हें दिखाई पड़ी थी और दूसरों के श्रम पर मौज उड़ाते ऐश-आराम करते मनुष्य कहे जानेवाले लोग भी। निचले वर्ग की जनता के भी अनेक रूप उनके सामने से गुज़रे थे और तथाकथित सफ़ेदपोश, सम्पन्न समाज भी अपनी बहुरंगी शक्ल लिये उनकी आंखों के सामने आया था। उन्होंने अपने देखे गये इस जीवन को पूरी ईमानदारी तथा एक सच्चे कलाकार की सारी संवेदना के साथ अपनी कृतियों में उभारा और इस प्रकार उन्हें एक नई प्रखरता दी।'[1]

इसी अर्थ में प्रेमचंद की मूल्य-दृष्टि और युगबोध कालजयी प्रासंगिकता अर्जित करते हैं । जो कुछ जैसा है, उसको वैसा उसी रूप मेंस्वीकार कर लेना एक यथास्थितिवादी नज़रिया है, जबकि जो है - उससे बेहतर की चाह परिवर्तनवादी एवं सुधारवादी रुख । प्रेमचंद की कहानियों में व्यक्त दलित जीवन इसी बेहतरी की चाह से उपजा और विकसित हुआ है । परिवर्तनवादी और सुधारवादी रुख यथार्थ और आदर्श से जुड़ा हुआ भाव है । प्रेमचंद जिन कहानियों में खुले रूप में समस्या का समाधान नहीं सुझाते, हृदय परिवर्तन नहीं कराते, बल्कि शोषण एवं दमन को अद्वितीय कथादृष्टि और संवेदना के साथ यथार्थपरक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं, चित्रित करते हैं - वे कहानियां शोषण और दमन से मुक्ति के लिए `व्यवस्था-परिवर्तन` की मांग करती हैं । जिन कहानियों में वे समस्या का समाधान `चेंज आफ हार्ट` के आधार पर प्रस्तुत करते हैं, वे सुधारवादी दृष्टि की ओर संकेत करती हैं । `सद्गति` और `घासवाली` के आधार पर इन फ़र्क़ों को समझा जा सकता है । `व्यवस्था` के प्रति संदेह और पात्रों द्वारा उठाए गए सवाल पुरुष पात्रों की अपेक्षा ज्यादातर स्त्री पात्रों में ही मुखरित हुए हैं, मसलन `ठाकुर का कुआं` की `गंगी` और `घासवाली` की `मुलिया` के व्यक्तित्व देखे जा सकते हैं। `गोदान` उपन्यास की `धनिया` तक आते-आते दलित-स्त्री का तेवर और भी विद्रोही बन जाता है । ये दलित-चेतना और खास तौर से दलित स्त्री चेतना का सशक्त उदाहरण है । इन तमाम दृष्टियों के मद्दे नज़र `दलित जीवन` को विश्लेषित करना अभीष्ट है ।

प्रेमचंद की कहानियों का फलक बहुत व्यापक है, जिसमें अमृतराय के अनुसार 224 कहानियां समाई हुई हैं । अमृत राय ने `प्रेमचंद : क़लम का सिपाही` के परिशिष्ट - 2 में कहानियों की सूची प्रस्तुत की है । उसमें से

अधिकतर कहानियां `मानसरोवर` के आठ भागों में संकलित हैं । मात्र कफ़न कहानी जो कि प्रेमचंद की अंतिम कहानी है और सबसे अधिक प्रसिद्ध और विवादास्पद कहानी मानी गई है - `मानसरोवर` के आठ भागों में संकलित होने से रह गई है । उन 224 कहानियों में से दलित जीवन से जुड़ी हुई महत्वपूर्ण कहानियां निम्नवत् हैं - `ठाकुर का कुआं `, `गुल्ली डंडा`, `घास वाली`, `दूध का दाम`, `शूद्रा`, `सौभाग्य के कौड़े `, `मुक्ति मार्ग `सद्गति`, `सवा सेर गेहूं `, `आगा पीछा`, `मंदिर`, `मंत्र-1`, `विध्वंस` `पूस की रात` और `कफ़न` । इन्हीं कहानियों का विवेचन इस अध्याय में अपेक्षित होगा ।

शुरुआत `ठाकुर का कुआं ` से ही करते हैं, जो प्रो० मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में , `केवल एक कुआं नहीं है, बल्कि पूरा हिन्दू समाज ठाकुर का कुआं है, जिसमें अछूतों को डूब मरने की तो सुविधा है, पीने के लिए पानी लेने की सुविधा नहीं ।`[2]

एक अस्पृश्य दम्पत्ति गंगी और जोखू के माध्यम से इस छोटी-सी कहानी में प्रेमचंद एक बड़े व्यापक संकेत की ओर हमें ले जाते हैं । जोखू बीमार है और प्यास से तड़प रहा है । अस्पृश्यों का कुआं गांव से अलग और दूर है, जहां से गंगी पानी तो लाई है, लेकिन उसमें बदबू है - शायद जानवर मर गया है उस कुएं में, कहीं बीमारी बढ़ न जाए, इसलिए जोखू को वह पानी पीने नहीं देती और ठाकुर या साहू के कुएं से पानी लाने के लिए तैयार होती है तो जोखू कहता है - `हाथ-पांव तुड़वा आएगी और कुछ न होगा । बैठ चुपके से। ब्राह्मण देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहू जी एक के पांच लेंगे । गरीबी का दर्द कौन समझता है ।... ऐसे लोग कुएं से पानी भरने देंगे ?`[3]

गंगी डरते हुए ठाकुर के कुएँ से पानी लेने जाती है जो उस समय उसके लिए अमृत से भी बढ़ कर है । जगत की आड़ में बैठी गंगी मौके का इंतजार करती है । उसे डर है कि कहीं कोई पानी लेते देख लिया तो जोखू की चेतावनी सच साबित होगी । इस भय की भयानक यंत्रणा के बीचसे चेतनाशील नारी की छवि गंगी में उभरती है और उसके ज़ेहन में तमाम सवाल एक साथ उभरते हैं -'हम क्यों नीच हैं और येक्यों ऊंच हैं ? इसलिए कि येलोग पैसे में तागा डाल लेते हैं ? ... अभी इस ठाकुर ने तोउस दिन बेचारे गड़रिये की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद को मार कर खा गया । इन्हीं पंडित के घर में तो बारहों मास जुआ होता है । यही साहू जी तो घी में तेल मिला कर बेचते हैं । ... किस-किस बात में हैं हमसे ऊंचे ? हां, मुंह से हम से ऊंचे हैं ।... बेचारे महंगू को इतना मारा कि महीनों लहू थूकता रहा । इसीलिए तो कि उसने बेगार न दी थी । इस पर येलोग ऊंचे बनते हैं ?'[4]

भय, विद्रोह और तनाव की विवशता के मध्य गंगी का साहसी क़दम कुएं की जगत तक पहुंच जाता है। घड़े से भरा हुआ पानी कुएँ से खींचता है । तभी शेर के मुंह से भी भयानक ठाकुर का दरवाज़ा खुलता है - उसके हाथ से रस्सी छूटती है और भाग कर घर पहुंच कर देखती है कि 'जोखू लोटा मुंह से लगाए वही मैला गंदा पानी पी रहा है ।'[5]

इस छोटी सी कहानी में हिन्दू व्यवस्था की हक़ीक़त, तथा अस्पृश्यों के प्रति अमानवीय व्यवहार को चित्रित किया गया है । गंगी को लाग लपेट की भाषा नहीं आती । वह ऊंची जाति वालों के चेहरों के नक़ाब उतार कर उनका असली चेहरा दिखाती है और बताती है कि उनकी कथनी और

करनी में कितना अंतर है । ठाकुर और उसका कुआं दोनों ही भय के प्रतीक हैं । `ठाकुर का कुआं सामाजिक विभाजन का एक मूर्त बिम्ब है जो सवर्ण और अछूत को न केवल पृथक् करता है, बल्कि दोनों की सामाजिक स्थितियों के गहरे भेद को भी प्रतिबिम्बित करता है ।`[6]

इस कहानी में अस्पृश्य गंगी के अलावा प्रेमचंद स्पृश्य स्त्रियों के शोषण तथा उनकी स्थिति को भी चित्रित करते हैं । दलित तो स्त्रियां भी हैं । अत: उक्त प्रसंग बहुत महत्वपूर्ण है । पानी भरने आई दो स्त्रियों का वार्तालाप द्रष्टव्य है -

`खाना खाने चले और हुक्म हुआ कि ताज़ा पानी भर लाओ । घड़े के लिए पैसे नहीं हैं ।`

`हम लोगों को आरामसे बैठे देख कर जैसे मरदों को जलन होती है ।`

`हां, यह तो न हुआ कि कलसिया उठाकर भर लाते । बस, हुकुम चला दिया कि ताज़ा पानी लाओ, जैसे हम लौंडिया ही तो हैं । `

... ...

`छिन भर आराम करने को जी तरस कर रह जाता है ।`[7]

इन वक्तव्यों से स्त्रियों की सामाजिक पारिवारिक स्थिति का भान होता है । शोषण के प्रति उनके मन में आक्रोश भी है । /

`गुल्ली डंडा` कहानी हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के ढांचे में निर्मित मानसिक प्रवृत्ति को उजागर करती है । शैशवावस्था का आक्रामक गया चमार युवावस्था में आकर दब्बू क्यों हो गया है ? यह सवाल व्यवस्था को कठघरे

में खड़ा करते हैं । उसकी प्रतिभा, उसका आक्रामक तेवर 'जन्म से नीच बना देने वाली' व्यवस्था में तिरोहित हो जाता है । व्यवस्था के मकड़जाल ने उसे दब्बू बना दिया है । यह वही गया है जो गुल्ली डंडे के खेल में थानेदार के बेटे से अपना दांव लेने के लिए संघर्ष करके उसकी पीठ पर डंडा जमा देता है ।

गया को बचपन के अपने अधिकार का ज्ञान है । वह न्याय के लिए संघर्ष की शक्ति रखता है । 'वह अन्याय पर डटा हुआ था । मैं हाथ छुड़ा कर भागना चाहता था । वह मुझे जाने न देता । मैंने उसे गाली दी, उसने उससे बड़ी गाली दी, और गाली ही नहीं, एक चांटा जमा दिया । मैंने उसे दांत काट लिया । उसने मेरी पीठ पर डंडा जमा दिया ।'[8]

इस उद्धरण में गया ईंट का जवाब पत्थर से दे कर न्याय हासिल करने की और अग्रसर है ।इस तरह गया का लड़कपन स्वाभिमान पूर्ण और संघर्ष शील है । गया में अन्याय को कुचलने की सामर्थ्य है और थानेदार के लड़के को इस बात का अपमान है कि 'मैं थानेदार का लड़का एक नीच जात के लौंडे के हाथों पिट गया ।'[9]

वही गया युवावस्था में पहुंच कर अपनी सामाजिक स्थिति का ज्ञान और विकास अवरुद्ध हो जाने के कारण दब्बू -सा हो गया है । डिप्टी साहब का साईस बनने के बाद जी-जी करने की आदत पड़ गई है । वही थानेदार का बेटा जब इंजीनियर बन कर गांव आता है तो उसको भी हुजूर, मालिक, सरकार शब्द से संबोधित करता है । सामाजिक विसंगतियों और आर्थिक बदहाली से उसके अंदर हीन भावना आ गई है । वह खुद को छोटा मान बैठा है, लेकिन ऐसा नहीं है कि अन्याय के प्रति आक्रोश और अधिकार भावना

बिलकुल ही विलुप्त हो गई है । इस शक्ति का प्रस्फुटन कहानी के अंत में देखने को मिलता है - 'पढ़ने वालों में एक युवक ने कुछ धांधली की । उसने अपने विचार में गुल्ली लपक ली थी । गया का कहना था - गुल्ली जमीन पर लग कर उछली थी । इस पर दोनों में ताल ठोकने की नौबत आ गई । युवक दब गया । गया का तमतमाया हुआ चेहरा देखकर डर गया ।'[10] यहां गया का वही बचपन का तेवर पुन : उभरता है - जो संकेत करता है कि वह अन्याय को कभी भी पसन्द नहीं करता, वह अन्याय और शोषण के ख़िलाफ़ कभी भी विद्रोह कर सकता है । प्रेमचंद एक खेल के माध्यम से समाज की विद्रूपताओं का रेखांकन करते हैं ।

'घासवाली' कहानी गांधी-युग के हृदय-परिवर्तन के आदर्श पर आधारित है, जिसमें एक आततायी जमींदार-पुत्र चैन सिंह एक मामूली तांगे वाले चमार महावीर की सुन्दरी पत्नी की फटकार से नेक आदमी बन जाता है । यह प्रेमचंद के लिए आदर्शात्मक स्थिति हो सकती है, यथार्थ में ऐसा संभव नहीं है । लगता है प्रेमचंद के मन में इस कहानी की स्थापना पहले से मौजूद थी, जिसे उन्होंने अपने परिवेश के किसी एक आदमी तथा किसी एक औरत को उठा कर उनके खेल में प्रस्तुत किया । लेकिन आदर्श स्थिति में पहुंचने से पहले यह कहानी दलित-जीवन की विवशता और उसकी स्थिति को यथार्थपरक ढंग से उद्घाटित करती है । युवक चैनसिंह द्वारा मुलिया की इज़्ज़त लूटने का प्रयास उसे अपनी बेबसी पर रुलाता है - 'अगर वह इतनी ग़रीब न होती, तो किसी की मजाल थी कि इस तरह उसका अपमान करता । वह रोती जाती थी और घास छिलती जाती है ।'[11] यह मुलियाकी बहुत कुछ ज़ब्त करने की प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है ।

लेकिन मुलिया सिर्फ ग़रीब ही नहीं है, अपितु वह अस्पृश्य भी है, जिसकी सामाजिक स्थिति या हैसियत यह है कि वह सवर्णों के हाथों का खिलौना बने । इसी भावना से चैन सिंह मुलिया की दया चाहता है । लेकिन मुलिया का विद्रोही तेवर, उसका अभिमान और साहस देख कर चैन सिंह के छक्के छूट जाते हैं ।वह चैन सिंह को धमकाती है -`जाओ, अब मुझे कभी न छेड़ना, नहीं अच्छा न होगा ।`[12] मुलिया अपनी `इज़्ज़त`,`मर्यादा` की रक्षा वाक् पटुता और निडरता से करती है । मुलिया का विद्रोही तेवर दलित युवतियों को संदेश देता है कि निडर बनो, बुद्धिमानी से काम लो - कोई अत्याचारी शक्ति तुम्हें नहीं लूटेगी ।

दलित की इज़्ज़त को खिलौना समझने वालों और अपनी इज़्ज़त पर गर्व करने वालों को मुलिया बड़े-बड़े घरों का हाल बता कर उनकी हैसियत बता देती है -`बड़े बड़े घरों का हाल जानती हूं । मुझे किसीबड़े घर का नाम बता दो, जिसमें कोई साईस, कोई कोचवान, कोई कहार, कोई पंडा, कोई महराज न घुसा बैठा हो? यह सब बड़े घरों की लीला है ।`[13] मुलिया दलित की इज़्ज़त और पति के विश्वास को स्थापित करते हुए कहती है, `मेरे आदमी के लिए संसार में जो कुछ हूं, मैं हूं ।`[14]

मुलिया नारी चेतना की प्रतीक है । अपने पति के मनमानी करने पर वह चुप नहीं बैठ सकती, कहती है -`हां, वह अपने मन की करने लगे, मेरी छाती पर मूंग दलने लगे, तो मैं भी उसकी छाती पर मूंग दलूंगी ।`[15] लेकिन मुलिया की सारी चेतना अपनी सास के आगे क्षीण लगती है । उसकी सास में पुरुष वर्चस्व का आत्मसातीकरण हो गया है, बल्कि मुलिया की ही सास नहीं, अधिकतर स्त्रियां सास बन कर वर्चस्व का वही रूप धारण करती हैं - `यह हमारे समाज की विडंबना है । लगता है जैसे सास बनकर वह स्त्री के

के दु:ख-दर्द और वेदना को भूल जाती है । मुलिया की सास डांटते हुए उससे कहती है -`तो यहां मेरे घर में रानी बनके निबाह न होगा ।... उठा झाबा और घास ला ।`[16] `घासवाली` कहानी दो दलित स्त्रियों की मन:स्थितियों को भी उभारती है । साथ ही मुलिया के माध्यम से वर्चस्वशाली वर्गका कुचरित्र भी उभर कर सामने आता है ।

`दूध का दाम` एक दलित किशोर को ज़िंदा लाश में तब्दील कर दिये जाने की एक यथार्थपरक कहानी है जिसमें प्रेमचंद इस बात को उद्घाटित करते हैं कि दलितों की सेवा का मूल्य जूठी और सूखी रोटी से ज्यादा कुछ नहीं है ।

गांव के ज़मींदार, बाबू महेशनाथ के घर में तीन पुत्रियों के बाद पुत्र पैदा हुआ । हमेशा की तरह दाई का काम भूंगी भंगिन ने अंजाम दिया । उनकी पत्नी को दूध नहीं उतरा । अत: भूंगी को दाई और धाय दोनों की भूमिका निभानी पड़ती है । साल भर बाद बिरादरी चेती और उसने इस पाप के लिए `बाबूजी` से प्रायश्चित की मांग की । `प्रायश्चित तो न हुआ, लेकिन भूंगी को गद्दी से उतरना पड़ा ।` भूंगी को यह गद्दी बहुत महंगी पड़ी । दूध तो मालिक का बच्चा डकार गया । उसका अपना बच्चा मंगल उपेक्षित दुबला और रोगी सदृश होगया । मालिक के बेटे सुरेश के सामने पिद्दी-सा लाता था ।`

भूंगी और गूदड़ दम्पत्ति के मरने के बाद - मंगल अब अनाथ था । दिन-भर महेश बाबू के द्वार पर मंडराया करता । घर में जूठन इतना बचता था कि ऐसे - ऐसे दस-पांच बालक पल सकते थे । खाने की कोई कमी न थी ।..

कोई उसे अपने साथ सेलाता भी न था । यहां तक कि जिस टाट पर वह सोता था, वह भी अछूत था ।... एक फटा-सा टाट का टुकड़ा, दो मिट्टी के सकोरे और एक धोती, जो सुरेश बाबू की उतारन थी ।... बस उसका कोई अपना था, तो गांव का कुत्ता, जो अपने सहवर्गियों के जुल्म से दुखी होकर मंगल की शरण में आ पड़ा था । दोनों एक ही खाना खाते, एक ही टाट पर सोते, तबियत भी दोनों की एक-सी थी, और दोनों एक दूसरे के स्वभाव को जान गए थे । कभी आपस में झगड़ा न होता ।'[17]

इस उद्धरण के माध्यम से हिन्दू समाज में दलित की स्थिति का आभास मिलता है । खास तौर से जोअछूत हैं, उनकी दुर्दशा का पता चलता है । वर्चस्वशाली और तथाकथित ऊंची जाति के लोगों की बदनीयती का पर्दा-फाश होता है इस कहानी में । आज भी दलित ऐसे जीवन जीने को अभिशप्त हैं । लेकिन ऐसी स्थिति में आने के बाद भी मंगल की अधिकार और विद्रोह की भावना मरी नहीं है । सवार-सवार के खेल में महेश नाथ का लड़का सुरेश उसे बराबर घोड़ा ही बनाना चाहता है । 'सुरेशने कहा --'... तू घोड़ा बनेगा, हम लोग तेरे ऊपर सवारी करके दौड़ाएंगे ।

मंगल ने शंका की - मैं बराबर घोड़ा ही रहूंगा किसवारी भी करेगा ?

यह प्रश्न थोड़ा टेढ़ा था । किसी ने इस पर विचार न किया था । सुरेश ने एक क्षण विचार करके कहा - तुझे कौन अपनी पीठ पर बैठाएगा, सोच ? आखिर तू भंगी है कि नहीं ?

मंगल भी कड़ा हो गया । बोला -'मैं कब कहता हूं कि मैं भंगी नहीं हूं, लेकिन तुम्हें मेरी ही मां ने दूध पिला कर पाला है । जब तक मुझे भी सवारी करने को न मिलेगी, मैं घोड़ा न बनूंगा । तुम लोग बड़े चधड़ हो। आप तो मज़े से सवारी करेंगे और मैं घोड़ा ही बना रहूंगा ।'[18] खेल में मंगल की विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया उसे बुरा फल देती है । जिससे उसे बाबू

महेश नाथ का घर छोड़ कर निर्वासित होना पड़ता है । घर क्या नीम के पेड़ के नीचे जाड़ा-गरमी-बरसात में महेश नाथ के परिवार के जूठन पर पलता है । उस जूठनसे भी हाथ धो बैठता है । लेकिन भूख की बेचैनी से उसके पुन: लौट कर न आने का संकल्प टूट जाता है । इस दरम्यानहुआ मंगल-टामी संवाद भी निरीहता, लाचारी और परावलम्बन का सूचक है ।टामी ने कूं-कूं करके मंगल से जो कहा, उसमें व्यक्त वेदना द्रष्टव्य है -`इस तरह का अपमान तो जिन्दगी भर सहना है । यों हिम्मत हारोगे, तो कैसे काम चलेगा ? मुझे देखो न, कभी किसी ने डण्डा मारा, चिल्ला उठा, फिर ज़रा देर बाद दुम हिलाता हुआ उसके पास जा पहुंचा । हम-तुम दोनों इसीलिए बने हैं भाई ।`[19]

हिन्दू व्यवस्था ने दलितों को इतना निरीह और मृतप्राय बना कर रखा है कि वह उठने की कई बार नाक़ाम कोशिश करता है । लेकिन उसकी विवशता, उसे तोड़ देती है। लेकिन उसकी छटपटाहट और विद्रोही सवाल उसे एक दिन ज़रूर उठाएंगे । सेवा की कीमत चुकानी पड़ेगी । इस कहानी में सुरेश की मां `देवी जी` की नारी संवेदना सिर्फ अपने पुत्र तक सीमित है । व्यवस्था ने स्त्री के ममत्व को मार दिया है ।

`शूद्रा` गंगा और गौरा दो दलित नारियों की कहानी है । गंगा विधवा है । उसे अपनी बेटी गौरा की शादी की चिंता खाये जा रही है। दलित है, परिवार में किसी पुरुष का साया नहीं है, अत: उस मां-बेटी के परिवार को लोग शक की नज़र से देखते हैं -`यह स्त्री कोई धंधा नहीं करती, फिर भी मां-बेटी आराम से रहती हैं, किसी के सामने हाथ नहीं फैलातीं । इसमें कुछ न कुछ रहस्य है ।`[20] इस भ्रांति से गौरा की शादी में भी बाधा उत्पन्न होती है। कोई बिरादरी वाला तैयार नहीं होता ।

प्रेमचंद ने `शूद्रों की बिरादरी ` कहार से इनकी पहचान कराई है ।

इत्तफ़ाक़ से एक `परदेशी गांव` के युवक मंगरू कहार से शादी होती है और वह गौरा के साथ ससुराल में ही रहने लगता है । धीरे-धीरे गांव के लोग उसका कान भरने लगते हैं । अंतत: गौरा को छोड़ कर मंगरू चला जाता है और ऐसी जगह जा फंसता है जहां स्त्रियों का मानसिक शारीरिक शोषण होता है। वहां से वह चाहकर भी बाहर नहीं निकल सकता । एक बुज़ुर्ग ब्राह्मण के फ़ांसे में आकर गौरा भी मंगरू की तलाश में सौभाग्य या दुर्भाग्य से वहीं पहुंच जाती है । वहां भी गौरा अपने स्त्रीत्व को बचाए रखती है, लेकिन मंगरू उस पर अविश्वास करता है। इस अविश्वास से उसे गहरा धक्का पहुंचता है और वह नदी में कूद कर आत्महत्या कर लेती है । देह व्यापार के उस कुण्ड में उसी ब्राह्मण द्वारा एक विधवा ब्राह्मणी को भी धकेल दिया जाता है ।

स्त्रियों और शूद्रों के शोषण को इस कहानी में चित्रित किया गया है । अंग्रेज एजेण्ट जो गौरा की इज़्ज़त से खेलना चाहता है - उसका हृदय परिवर्तन गौरा के बुद्धि और विवेक द्वारा हो जाता है ।

गौरा अंत तक अपने चारित्रिक आदर्श को स्थापित तो करती है, फिर भी अपने पति द्वारा स्वीकार्य न होने के कारण तथा विश्वास हासिल न करपाने के कारण उसकी परिणति निराशाजनक है । उसकी आत्महत्या दलित चेतना और आक्रोश को कमजोर करती है । स्त्रियों की ही बार-बार अग्निपरीक्षाएं क्यों ? इस कहानी से, केन्द्रीय सवाल यही उभरता है ।

'सौभाग्य के कोड़े' में माता-पिता विहीन नथुवा भंगी को एक दिन राय साहब के कोड़े की मार पड़ती है और वह बंगलेसे निकाल दिया जाता है। कोड़े की मार खा कर भागा हुआ नथुवा एक दिनसंगीताचार्य की पहचान लेकर लौटता है और उसी बंगले में राय साहब का दामाद बनने का सौभाग्य प्राप्त करता है।

यह वही नथुवा है जो कभी बचपन में राय साहब के यहां जूठन, उनके लड़कों के उतारे हुए कपड़े और राय साहब की दया पर पल रहा था, जिसका काम था बंगले में झाड़ू लगाना। एक दिन राय साहब की बेटी रत्ना के पलंग पर बिछे नरम और मोटे गद्दे तथा सुंदर दुशाला की अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा करता है - फिर क्या था, राय साहब द्वारा कोड़े से भंगी की औक़ात बता दी जाती है। राय साहब के शोषण और दया से मुक्त होते ही उसे अपनी शक्ति और अस्मिता का बोध होता है। बंगले से निकल कर जैसे ही सड़क पर आता है तो कहता है - 'यहां मारे तो देखूं, गाली देकर भागूंगा, फिर कौन मुझे पा सकता है? इस विचार से उसकी हिम्मत बंधी। बंगले की तरफ मुंह करके जोर से बोला - यहां आओ तो देखें, और फिर भागा कि कहीं राय साहब सुन न लिये हों।' उसके मन में डर फिर भी है। वह महसूस करता है कि, 'आज कोई मेरी पीठ पर होता, तो मजाल थी कि राय साहब मुझे यों मारते। सारी बिरादरी जमा हो जाती, घेर लेती, घर की सफ़ाई बंद हो जाती, कोई द्वार पर झाड़ू तक न लगाता।'[22]

बालक नथुवा बड़ा होकर जब संगीताचार्य की प्रसिद्धि हासिल करता है, तो उसके व्यक्तित्व में बचपन का तेवर - आक्रोश, विद्रोह भाव विलुप्त-सा हो जाता है और अपनी असलियत छिपाता है - ऐसा भीरु व्यक्तित्व दलित चेतना के तेवर को कमज़ोर करता है, ठंडा करता है।

रत्ना का चरित्र तथा आचार्य (नथुवा) रत्ना का प्रेम और विवाह जाति की जकड़न को तोड़ कर आदर्श ज़रूर स्थापित करता है, लेकिन आचार्य कौन है ? रत्ना के अलावा और कोई नहीं जान पाता, अर्थात् यह आदर्श समष्टिगत नहीं हो पाता, जिससे प्रेमचंद का आदर्श कमज़ोर दिखने लगता है ।

'मुक्ति मार्ग' में झिंगुरमहतो, बुद्धू गड़ेरिया और हरिहर चमार नामक तीन दलित पात्रों का चरित्रांकन हुआ है। झिंगुर और बुद्धू ईर्ष्या-वश एक दूसरे को नीचा दिखाने और हानि पहुंचाने की फिराक़ में रहते हैं । चमारों का मुखिया हरिहर इतना बड़ा दुष्ट है कि उसे किसी का बुरा करने में कभी भी संकोच नहीं होता । यह एक खल पात्र के रूप में चित्रित हुआ है । हरिहर की दुष्टता से गांव के सभी लोग थरथर कांपते हैं । हरिहर में निर्भयता और क्रूरता दिखाई गई है ।

झिंगुर, हरिहर की मदद से बुद्धू को गौ-हत्या में फंसा देता है । शास्त्र और ब्राह्मण के अनुसार उसे प्रायश्चित करना पड़ता है, जिसमें उसकी सारी पूंजी मिल-बांट कर खा ली जाती है और उसकी हालत जर्जर कर दी जाती है । बुद्धू की आर्थिक उन्नति से सभी ईर्ष्या करते थे । शुरू में भेड़ों को पीटने का बदला लेने के लिए बुद्धू ने झिंगुर के ऊख के खेत में आग लगा दिया था, जिसके साथ-साथ सारे गांव की भी ऊख जल गई थी । इसी का बदला सब मिल कर बुद्धू से लेते हैं । झिंगुर पहले ही फसल बर्बाद हो जाने के बाद मज़दूरी करने लगा था और अब बुद्धू भी सभी भेड़ें बेच कर मज़दूर बनने को अभिशप्त है । बुद्धू जहां मज़दूरी करने पहुंचता है - वहीं झिंगुर भी मज़दूरी करते हुए मिलता है । उन दोनों की दशा एक समान है । दोनों एक दूसरे के प्रति रचे गए षड्यंत्रों को स्वीकार करते हैं । लेकिन पश्चाताप किसी को नहीं ।

TH-6264

प्रेमचंद गांव के लोगों की मनोदशाओं को इस कहानी के माध्यम से उकेरते हैं । आर्थिक और सामाजिक संरचना ने मनुष्य के मनुष्यत्व को मार दिया है ।

सामाजिक-व्यवस्था का विकृत रूप किस हद तक लोगों के नस-नस में समाया हुआ है, इस कहानी का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यही है । झिंगुर और महतो जहां मज़दूरी करते हैं, वहीं रहते भी हैं । पहली रात जब खाना बनाने-खाने की बात आती है तो बुद्धू झिंगुर से कहता है -'तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं, इसलिए तुम्हीं रोटियां सेंको ।'[23] इस विकृत रूप के प्रसार का दोषी कौन है ? यह केन्द्रीय सवाल है ।

दूसरी महत्वपूर्ण बात जो कहानी के शीर्षक से जुड़ी हुई है - वो यह कि गोहत्या के प्रायश्चित से मुक्ति का जुड़ा होना - ब्राह्मणवादी व्यवस्था के शिकंजों की ओर संकेत करता - उसके शोषण की भिन्न-भिन्न विधियों को स्थापित करता है ।

'व्यवस्था' मानवीय हो या अमानवीय उसके स्थायित्व की सबसे बड़ी शर्त होती है - व्यवस्था के आदर्शों, मूल्यों, मान्यताओं को आत्मसात करवा देना । आत्मसातीकरण की इस प्रक्रिया में कई ऐसे पड़ाव आते हैं, जहां प्रतिरोध का स्वर फूटता है, लेकिन वर्चस्वशाली धारा उन प्रतिरोधी स्वरों को दबा देती है । सबसे दुखद स्थिति वह होती है, जब प्रतिरोध का स्वर ही न फूटे । इस स्वर न फूटने के पीछे दो कारण महत्वपूर्ण होते हैं - पहला, जाति-व्यवस्था की जड़ता तथा उसका ख़ूंख़ार रूप, जो आत्मसात के ज़हरीले इंजेक्शन के रूप में मन-मस्तिष्क पर क़ायम है और दूसरा, आर्थिक विपन्नता । 'सवा सेर गेहूं' और 'सद्गति' में इन्हीं कारणों के फलस्वरूप चल रही वर्चस्वशाली हिन्दू समाज व्यवस्था का प्रेमचंद ने बड़ी शिद्दत से निर्मम खुलासा किया है ।

'सवा सेर गेहूं' का शंकर कुर्मी इस प्रक्रिया का एक सामान्य-सा उदाहरण है। पुनर्जन्म, कर्मफल, विधाता-विधि जैसे संस्कारों ने उसे इस क़दर अपने घेरे में ले रखा है कि उसकी सहज मानवीय जिज्ञासा के जागने का कोई सवाल ही नहीं उठता। शंकर के यहां एक महात्मा जी आए। महात्मा जी के आतिथ्य में उन्हें एक दूसरे विप्र जी के यहां से सेवा सेर गेहूं, उधार लेना पड़ा। इस उधार से ही शुरू होती है, शोषण की वह प्रक्रिया, जिसे आर्थिक-संबंधों के आधार पर अर्थशास्त्रीय शब्दावली में समझ पाना संभव नहीं। शंकर ने सवा सेर गेहूं के बदले डेढ़ पसेरी गेहूं दिया, लेकिन विप्र का शिकंजा इतना मज़बूत था कि उसे पूरी ज़िंदगी सहानी पड़ी - फिर भी उऋण न हुआ। यह अगले जन्म का, भगवान के मार्फ़त तय होने वाला परिणाम ही था, जिसने शंकर को ज़िंदगी भर के लिए ग़ुलाम बनाए रखा।

ब्राह्मणवादी-व्यवस्था का इस कहानी में जो चित्र उभरता है - वह ख़ासा उल्लेखनीय है। आतंक और शोषण की जो शृंखला है, वह इस तरह देखी जा सकती है - शंकर के घर बिना बुलाए पूरे अधिकार-भाव से आकर ठहरने वाला महात्मा, शंकर को उधार देने वाला ब्राह्मण देवता, गांव में महाजनी करने वाला ब्राह्मण और बकौल इस ब्राह्मण-भगवान के यहां भी तो, "सब अपने ही भाई बन्धु हैं। ऋषि-मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं; देवता ब्राह्मण हैं, जो कुछ बने-बिगड़ेगी, संभाल लेंगे।"[24] जब यहां से वहां तक सब अपने ही लोग हैं, तो डर किस बात का। इस शोषण और आतंक में पीढ़ी-दर-पीढ़ी बीती जा रही है। शंकर मरा तो उसका बेटा गुलाम हुआ बेटा मरेगा तो... , बाहर निकलने की राह नहीं। यह दुर्ग ही तोड़ना पड़ेगा।

(प्रेमचंद सजग हैं, वे इसे कहानी नहीं वृत्तांत कहते हैं । पाठक को विश्वास दिलाते हैं कि यह कोई कपोल-कल्पित वर्णन नहीं, सत्य घटना है, जिसे संभव बनाने वाली `व्यवस्था` अमानवीयता, पाशविकता और असत्य पर टिकी हुई है ।)

(`व्यवस्था` का और भी भयानक, वीभत्स और घिनौना रूप `सद्गति` में उजागर होता है । `सद्गति` एक चमार द्वारा ब्राह्मण के घर भूखे प्यासे बेगार में खटने और अंतत: दम तोड़ देने के बाद ब्राह्मण द्वारा उसकी लाश को रस्सी में फंसा कर घसीटते हुए गांव के बाहर फेंक आने की एक हृदय-विदारक कहानी है ; बल्कि हकीक़त का दस्तावेज़ है, खुला चिट्ठा है । दुखी चमार की लाश को रस्सी से खींचता ब्राह्मण सिर्फ अपने क्रूर पाखण्ड को ही अनावृत्त नहीं करता, वह अस्पृश्यों पर हज़ारों वर्षों के हिन्दू अत्याचार का लम्बा इतिहास भी आंखों के सामने ला खड़ा करता है ।)

(प्रेमचंद ने इस कहानी में यह लक्षित किया है कि इस वर्चस्वशाली समाज में दलितों पर राजनैतिक शासन के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक शासन ज़बर्दस्त है ।) इस मनोवैज्ञानिक शासन ने `दुखी` की बुद्धि, विवेक और सोचने की स्वतंत्रता को कुंद कर दिया है । उसे लोक-परलोक के मकड़ जाल में फंसा कर अंधविश्वासी बना दिया है - दीनता और हीनता का भाव भर दिया है ; जिससे दुखी को मान-अपमान का भान नहीं होता तथा अधिकार और स्वतन्त्रता की चेतना से दूर हो जाता है । अंध-श्रद्धा में पूरे भक्ति-भाव से `मर्यादा` का पालन करता है । समाज की सारी पाबंदियों और रिवाजों को सच और भगवान का नियम मानते हुए पूरे श्रद्धा-भाव से ब्राह्मण की सेवा करता है । पंडित जी की गाय को घास डालने, द्वार पर झाड़ू लगाने, बैठक को लीपने, लकड़ी को चीरने और भूसा ढोने की प्रामाणिक सेवा करने पर भी दुखी की भूख-प्यास की चिंता पंडित जी को नहीं है । पंडित जी के डर से खाली पेट लकड़ी चीरता है -"दुखी ने सुबह से खाना नहीं

खाया था । उसे ज़ोर की भूख लगी, पर वहां खाने को क्या धरा था ? घर यहां से मील भर था । वहां खाने चला जाय, तो पंडित जी बिगड़ जाएं। बेचारे ने भूख दबायी और लकड़ी फाड़नेलगा ।[25] दुखी ने भूख मिटाने के लिए तम्बाकू पीने की जुगत किया । एक गोंड़ के यहां से `चिलम-तमाखू` मांग लाता है। आग के लिए पंडित जी के घर में बरौठे के द्वार पर खड़ा होकर बोलता है -`मालिक, रचिक आग मिल जाय, तो चिलम पी लें ।

पंडित जी भोजन कर रहे थे । पंडिताइन ने पूछा - यह कौन आदमी आग मांग रहा है ?

पंडित - अरे, वही ससुरा दुखिया चमार है । कहा है थोड़ी-सी लकड़ी चीर दे । आग तो है, दे दो ।

पंडिताइन ने भवें चढ़ा कर कहा - तुम्हें तो जैसे पोथी-पत्रों के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नहीं रही । चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुंह उठाए घर में चला आये । हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई । कह दो दाढ़ी जार से चला जाए, नहीं तो इसी तुआठी से मुंह झुलस दूंगी । आग मांगने चले हैं ।[26]

`व्यवस्था` ने दुखी को मानसिक रूप से भी गुलाम बना रखा है । पंडित के कहने पर पंडिताइन आग देने के लिए तैयार तो होती हैं, लेकिन चेतावनी देती हैं कि `फिर इस तरह कोई घर में आएगा, तो उसका मुंह झुलस दूंगी ।`

`दुखी के कानों में इन बातों की भनक पड़ रही थी । पछता रहा था, नाहक़ आया। सच तो कहती हैं । पंडित के घर में चमार कैसे चला आये ? बड़े पवित्तर होतेहैं यह लोग, तभी तो संसार पूजता है। ... पंडिताइन चिमटे से पकड़ कर आग लायी थी । पांच हाथ की दूरी से घूंघट की आड़ से दुखी की तरफ आग फेंकी । आग की बड़ी-सी चिनगारी दुखी के सिर

पर पड़ गई । जल्दी से पीछे हट करसिर को झटके देने लगा । उसके मन ने कहा - यह एक पवित्तर ब्राह्मन के घर को अपवित्तर करने का फल है । भगवान ने कितने जल्दी फल दे दिया । इसी से तो संसार पंडितों से डरता है ।[27] हिन्दू-व्यवस्था में मनोवैज्ञानिक ढाचे की निर्मिति इतनी मजबूत है कि शोषण, दमन और अपमान के एहसास को पनपने ही नहीं देती और अंत तक दुखी व्यवस्था की चक्की में पिसता रहता है तथा जान गंवा बैठता है ।

जिस वर्ण-व्यवस्था ने अस्पृश्यता, ऊंच-नीच और परम्परा के आधार पर दुखी की बलि ले ली, वही वर्ण-व्यवस्था दुखी के मरण के बाद भी उसके शव की दुर्दशा करते हुए लज्जित नहीं होती । शास्त्र-पुराण में नहीं लिखा है कि ब्राह्मण, चमार की लाश उठाए । इसलिए, पंडित जी ने एक रस्सी निकाली । उसका फंदा बना कर मुर्दे के पैर में डाला, और फंदे को खींच कर कस दिया । अभी कुछ कुछ धुंधला था । पंडित जी ने रस्सी पकड़ कर लाश को घसीटना शुरू किया और गांव के बाहर घसीट ले गए । वहां से आकर तुरंत स्नान किया, दुर्गा पाठ पढ़ा और घर में गंगाजल छिड़का।

उधर दुखी की लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोच रहे थे । यही जीवन-पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था ।[28] शायद यही सद्गति है !

हिन्दू धर्म और शास्त्र के ठेकेदारों पर व्यंग्य है । इस ब्राह्मणवादी व्यवस्था की अमानवीयता से कोई भी संवेदनशीलव्यक्ति कांप उठेगा । यह कहानी प्रेमचंद की यथार्थवादी दृष्टि और उनकी संवेदना का सशक्त उदाहरण है ।

दुखी चमार अस्पृश्यता और आर्थिक विपन्नता की दोहरी मार को

फेंकता है । स्पृश्य और अस्पृश्य के शोषण और दमन के फ़र्क को इसी आधार पर समझा जा सकता है ।

दुखी के व्यक्तित्व में क्रोध, विद्रोह और स्वाभिमान का कोई चिन्ह नहीं है । दुर्बल, अभिमान-शून्य और धर्म-भीरु दुखी का व्यक्तित्व समाज में कोई हलचल नहीं मचा सकता, लेकिन उसका त्रासद पूर्ण अंत आमूल परिवर्तन की मांग करता है - `व्यवस्था` को उखाड़फेंकने को प्रेरित करता है ।

अन्याय के प्रति मन में आक्रोश पैदा करने वाला `गोंड़ ` विद्रोही पात्र है । `कुछ खाने को मिला कि काम ही कराना जानते हैं । जाके मांगते क्यों नहीं ?`[29] इस प्रश्न से दुखी में साहस उत्पन्न करने का उस दलित का प्रयास है । गोंड़ का विद्रोह तब और उग्र धारण करता है, जब वह `चमरौने ` में जाकर दुखी का मुर्दा न उठाने की धमकी सभी चमारों को देता है । गोंड़ की धमकी की ध्वनि सामाजिक क्रांति में योग देने वाली है ।

`सद्गति` कहानी को लेकर एक हिन्दी लेखक ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने प्रेमचंद को घृणा का प्रचारक ठहरा कर उन पर सख्त हमला किया था। इसके उत्तर में प्रेमचंद ने समाज में होने वाली हिंसा और अत्याचार के विरुद्ध घृणा को उचित ठहराया ।[30]

प्रेमचंद सामाजिक ढाचे की नब्ज़ पकड़ कर उसकी एक-एक ग्रंथि की विकृतियों को उद्घाटित करते हैं । ऊंच-नीच का भाव समाज-व्यवस्था के मूल में इतनी गहराई तक समा गया है कि उसे उखाड़ फेंकना टेढ़ी खीर प्रतीत होता है । ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने सामाजिक गठन की जड़ में ऐसा मीठा ज़हर डाल दिया है कि वह ज़हर संरचना के रग-रग में समाकर एक दूसरे से ऊंचा होने

का दम्भ, तो किसी से नीच होने की आत्मस्वीकृति के नशे में चूर रहता है । व्यवस्था चलती रहती है और व्यवस्था के संचालक वर्ग इस नशे का लुत्फ़ लेते रहते हैं ।

'आगा-पीछा' कहानी में वेश्या की छापली हुई कोकिला की एक बेटी श्रद्धा है, जिससे भगत राम चमार शादी करना चाहता है । लेकिन भगत राम के माता-पिता, चौधरी-चौधराइन कोकिला को नीच और रंडी समझ कर उसकी बेटी से शादी करने का प्रतिवाद करते हैं।यही नहीं, अपनेबेटे को यह धमकी देते हैं कि यदिउसनेश्रद्धा से शादी की तो वे दोनों जान दे देंगे । हालांकि श्रद्धा की विनयशीलता, सुन्दरता और सेवा-भाव से चौधरी-चौधराइन में बदलाव आ जाता है और वे भगत राम को शादी करने की स्वीकृति दे देते हैं । प्रेमचंद का यह बदलाव सुधारवादी है ।

प्रेमचंद के दलित पात्रों में भगतराम सबसे शिक्षित पात्र है । वह एम० ए० उत्तीर्ण करके एक विद्यालय में अर्थशास्त्र का अध्यापक हो गया है । श्रद्धा से जिस समय भगत राम का परिचय होता है, वह अभी एम०ए० का छात्र होता है श्रद्धा को परिचय देते वक्त भगत राम की अस्पृश्यता की वेदना भी व्यक्त होती है जो सम्पूर्ण अस्पृश्यों की वेदना है -"यहां मैं एम०ए० में पढ़ रहा हूं । यह ऊंच-नीच का भूत न जाने कब तक हमारे सिर पर रहेगा । अभाग्य से मैं उन लोगों में से हूं, जिन्हें संसार नीच समझता है । मैं जाति का चमार हूं । मेरे पिता स्कूलों के इंस्पेक्टर के यहां अर्दली थे ।उनकी सिफारिश से स्कूल में भरती हो गया। तब से भाग्य से लड़ता-भिड़ता चला आ रहा हूं । पहले तो स्कूल के मास्टर मुझे छूते ही न थे। वह हालत तो अब न रही । किन्तु लड़के अब भी मुझसे खिंचे रहते हैं ।"[31]

इतना विचारशील भगत राम शादी के सूत्र में बंधने से पहले ही संशय और भ्रम के आवरण से घिर जाता है ।उसका मानसिक संघर्ष इतना तीव्र होता है कि वह शादी की तिथि तक आते आते मरणासन्न स्थिति

में पहुंच जाता है। वह श्रद्धा से कहता है - 'इन तीन वर्षों में मुझे जो आत्मिक यंत्रणा मिली, हृदय ही जानता है । तुम वफ़ा की देवी हो, लेकिन मुझे रह-रह कर यह भ्रम होता था, क्या तुम खून के असर का नाश कर सकती हो ? क्या तुम एक बार अपनी परम्परा की रीति छोड़ सकोगी ? क्या तुम जन्म के प्राकृतिक नियमों को तोड़ सकोगी ?... इस भ्रम के वश में पड़ कर संसार से मैं अपनी इच्छाएं बिना पूर्ण किए ही जा रहा हूं ।'[32] शिक्षित दलित भगत राम परम्परागत प्रभाव के सामने पराभूत हुआ है ।

'मंदिर' कहानी में अस्पृश्यता और जहालत के अंधेरेकोह में 'सुखिया' के जीवन का एकमात्र आधार उसका पुत्र जियावन ही है । सुखिया की आशाएं - आकांक्षाएं, हंसी-खुशी - सब कुछ उसका अपना पुत्र ही है । पति के मरने के बाद सुखिया के जीवन की एकमात्र ज्योति उसका पुत्र है । जहालत भरी ज़िंदगी जीने का यदि कोई मक़सद है, तो वह है उसका प्यारा पुत्र ; जिसको बचपन से ही मां के सुख और आराम की चिंता है - जियावन के लिए उसकी मां ने नन्ही-सी खुरपी और नन्हीं खांची बनवा दी है । सुखिया ने उसके मनोरंजन और खेत के सामान के रूप में खुरपी-खांची बनवाई है लेकिन जियावन उसे खेल की वस्तु नहीं समझता - 'जियावन माता के साथ घास छीलता और गर्व से कहता - 'अम्मां, हमें भी बड़ी-सी खुरपी बनवा दो, हम बहुत-सी घास छीलेंगे, तुम द्वारे माची पर बैठी रहना, अम्मां, मैं घास बेच लाऊंगा । मां पूछती - हमारे लिए क्या-क्या लाओगे, बेटा ? जियावन लाल लाल साड़ियों का वादा करता ।'[33]

जियावन का अचानक बीमार पड़ना - सुखिया के जीवन में विपत्ति का कहर ढाता है । सुखिया ठाकुर जी से पुत्र के जीवन की भीख मांगने जाती है, लेकिन उसे ठाकुर जी के मन्दिर में प्रवेश नहीं मिलता । पुजारी और अन्य

भक्तगण उसे मंदिर में घुसने से रोकते हैं । पुजारी कहता है कि क्या मंदिर को `भ्रष्ट` करने आई है ?

सुखिया ने बड़ी दीनता से कहा - ठाकुर जी के चरण छूने आई हूं, सरकार । पूजा की सब सामग्री लाई हूं ।

पुजारी - कैसी बेसमझी बात करती है रे, तुझ पगली तो नहीं हो गई है ? भला तू ठाकुर जी को कैसे छुएगी ? .. अरे, तू चमारिन है कि नहीं रे ?

सुखिया - तो क्या भगवान् ने चमारों को नहीं सिरजा है ? चमारों का भगवान कोई और है? इस बच्चे की मनौती है सरकार ।... भक्त महोदय ... डपट कर बोले - मार के भगा दो चुड़ैल को । भ्रष्ट करने आई है । फेंक तो थाली-वाली । संसार में आप ही आग लगी हुई है, चमार भी ठाकुर जी की पूजा करने लगेंगे, तो पिरथी रहेगी कि रसातल को चली जाएगी ?

दूसरे भक्त महोदय बोले - अब बेचारे ठाकुर जी को भी चमारों के हाथ का भोजन करना पड़ेगा । अब परलय होने में कोई कसर नहीं है ।[34]

सुखिया ठाकुर जी का दर्शन किए और घर आ जाती है, लेकिन वह हार नहीं मानती । जियावन का बुखार जब बढ़ने लगता है तो ठाकुर जी की पूजा के लिए जाड़े की सर्द भरी रात में निकल पड़ती है । देखती है मंदिर पर ताला पड़ा है । पत्थर से ताला तोड़ डालती है । पुरोहित शोर मचाता है और गांव वाले `भगवान` के सामने ही लातों घूसों से सुखिया चमारिन की हैसियत बता देते हैं । जियावन उसके हाथ से छूट कर नीचे गिर पड़ता है और उसकी मृत्यु हो जाती है - नहीं, `हत्या` कर दी जाती है ।

लेकर अब दूर क्यों खड़े हो ? मुझे भी क्यों नहीं उसी के साथ मार डालते ? मेरे छूने से ठाकुर जी को छूत लग गई । ... मेरे छूने से ठाकुर जी अपवित्र हो जाएंगे । मुझे बताया, तो छूत नहीं लगी ? लो, अब कभी ठाकुर जी को छूने नहीं आऊंगी । ताले में बंद रखो, पहरा बैठा दो ।'[35]

दलितों में भगवान के प्रति अनास्था का जो दौर शुरू हुआ है, वह इसी पीड़ा की उपज है । भगवान सिर्फ 'उनके' हैं और 'उनके लिए' हैं । बालक और स्त्री पर किए गए इस अत्याचार ने यह साबित कर दिया है कि भक्तों और पुरोहितों का समाज कितना अमानवीय और संवेदनारहित है । इसके विपरीत मानवता और संवेदनशीलता का जीवंत प्रमाण वह बूढ़ा अछूत है जिसका चरित्रांकन 'मंत्र' कहानी में हुआ है । हिन्दू महासभा के कर्णधार लीलाधर चौबे को नया जीवन देकर बूढ़ा अछूत यह साबित करता है कि मानवता और इंसानियत दलित के रग-रग में है । इसकी अनुभूति लीलाधर चौबे को होती है --'मैं जिन लोगों को नीच समझता था, और जिनके उद्धार का बीड़ा उठा कर आया था, वे मुझसे कहीं ऊंचे हैं ।

अछूतों द्वारा इस्लाम धर्म अंगीकार करने की सूचना पाकर लीलाधर चौबे मद्रास प्रान्त के उन अछूतों के गांव में पहुंचते हैं । वहां के लोग अंध-विश्वासी हैं, प्लेग को भगवान का प्रकोप समझ कर बीमारीजों को छोड़ कर भाग जाते हैं - जो उनकी अज्ञानता और जहालत को चित्रित करता है , लेकिन लोग हिन्दू धर्म और जाति की तुच्छता को अपने कड़वे अनुभव से जानते हैं । लीलाधर चौबे जब अपने व्याख्यान में हिन्दू धर्म केरीति-रिवाज और संस्कार का गौरव-गान करते हैं और अछूतों के उद्धार की बात करते हैं तो वही बूढ़ा अछूत चौबे जी से कहता है -'हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को

जानते हैं, जो दिन-रात नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते, और कितने ही ऐसे हैं, जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं, पर आप को उनके साथ भोजन करते देखता हूं। उनसे विवाह-सम्बन्ध करने में आप को कदाचित् इन्कार न होगा। जब आप खुद अज्ञान में पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे करेंगे? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है, जाइए अभी कुछ दिन और अपनी आत्मा का सुधार कीजिए। हमारा उद्धार आपके किए न होगा। हिन्दू समाज में रह कर हमारे माथे से नीचता का कलंक न मिटेगा। हम कितने ही विद्वान, कितने ही आचारवान हो जायं, आप यों ही नीच समझते रहेंगे। हिन्दुओं की आत्मा मर गई है और उसका स्थान अहंकार ने ले लिया है।'[37]

बूढ़ा चौधरी सामाजिक जड़ता से पूर्णत: वाक़िफ़ है। उसकी मुखरता दलितों के लिए प्रेरक है। उसमें न किसी प्रकार की गिड़गिड़ाहट है, न मजबूरी और न लाचारी। उसका व्यक्तित्व परिवर्तन के स्वर को और तेज़ करता है।

'विध्वंस' जमींदार पंडित उदय भान के अत्याचार की आग की लपटों की कहानी है, जिसमें भुनगी गोंड़िन अपने भाड़ के साथ भस्मीभूत होती है लेकिन भाड़ की आग में भुनगी का यह समर्पण व्यर्थ न होकर उससे उत्पन्न आग की विद्रोही ज्वालाएं आसपास इतनी फैलती हैं कि उनमें झोंपड़ियों के साथ उदयभान का विशाल भवन भी ख़ाक हुए बिना नहीं रहता। दलितों की विद्रोही ताक़त अत्याचारियों को मिटा सकती है, उनका भी विध्वंस कर सकती है। यही स्वर इस कहानी में मुखरित हुआ है।

'पूस की रात' और 'कफ़न' में वर्ण-व्यवस्था और अस्पृश्यता की समस्या केन्द्रीय नहीं है, बल्कि इन दोनों कहानियों में आर्थिक शोषण के भीषणतम पहलू और परिणाम को दिखाया गया है। हल्कू को फसल

नष्ट हो जाने की ख़ुशी है तो घीसू-माधव को `बुधिया` के `स्वर्ग ` सिधार जाने की ख़ुशी है - दु:खद व्यंग्य है ।

दोनों कहानियों में 6 वर्ष का अंतर है । `पूस की रात` 1930 में और कफ़न 1936 में लिखी गई कहानी है । इन 6 वर्षों के अंतराल में प्रेमचंद की महत्वपूर्ण और यथार्थपरक कहानियां आती हैं जो वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता के भीषण और वीभत्स रूप को उद्घाटित करती हैं और संकेत करती हैं कि सारी गड़बड़ व्यवस्था में ही है, अत: व्यवस्था को ही उखाड़ फेंकने की ज़रूरत है ।

`पूस की रात` तत्कालीन किसान आन्दोलन के प्रभाव में लिखी गई कहानी लगती है, जो मात्र आर्थिक शोषण से मुक्ति की मांग करती है । इस कहानी में धर्म और जाति के आधार पर शोषण बिलकुल नहीं दिखता, जबकि इसके मूल में कारक तत्व वही हैं ।महाजनी और सामंती प्रथा की झलक मिलती है । कहीं भी यह लक्षित नहीं होता कि सामाजिक व्यवस्था में कहीं खोट है । हल्कू भले ही अस्पृश्य न हो, लेकिन स्थितियां बताती हैं कि उसकी जर्जर हालत की दोषी सामाजिक व्यवस्था भी है । जो महाजन और शोषक वर्ग हैं, वे कौन हैं ? ज़ाहिर है वे वर्चस्वशाली समाज के सिरमौर ही हैं । शोषण का एक नया रूप किसान को क़र्ज़ में डुबोए रखना है ।

किसान से मज़दूर बनने की त्रासद घटना पर आधारित `पूस की रात` भले ही वर्ण व्यवस्था पर चोट न करती हो, लेकिन उसमें जो मानवीय क्रंदन है - वह संवेदना के तार को कई स्तरों पर झंकृत करता है --

`हल्कू ने रुपये लिये और इस तरह बाहर बाज़ार चला, मानो अपना हृदय निकाल कर देने जा रहा हो ।उसने मजूरी से एक-एक पैसा काट-काट कर

तीन रुपये कम्बल के लिए जमा किए थे । वह आज निकले जा रहे थे । एक-एक पग के साथ उसका मस्तक अपनी दीनता के भार से दबा जा रहा था ।'[38]

भाग्यवादी आस्था के भीतर से हल्कू के मन में आर्थिक विषमता की सीधी झलकती है -'यह खेती का मज़ा है । और एक भगवान ऐसे पड़े हैं, जिनके पास जाड़ा जाए तो गरमी से घबड़ाकर भागे । मोटे-मोटे गद्दे, लिहाफ़, कम्बल, मजाल है, जाड़े का गुज़र हो जाए। तकदीर की ख़ूबी है । मजूरी हम करें, मज़ा दूसरे लूटें ।'[39]

एक अजीब विडम्बनापूर्ण स्थिति है कि हल्कू की विपत्ति का साथी एक कुत्ता है । मानवीयता की अधोगति की यह कैसी शर्मनाक स्थिति है जब हल्कू ठण्ड से बचने के लिए दुर्गन्ध युक्त कुत्ते को अपनी गोद में चिपका कर सोता है -'कुत्ते की देह से जाने कैसी दुर्गन्ध आ रही थी, पर वह उसे अपनी गोद में चिमटाए हुए ऐसे सुख का अनुभव कर रहा था, जो इधर महीनों से उसे न मिला था ।'[40]

इस कहानी में मुन्नी की निर्भीकता, स्पष्टवादिता के रूप में नारी चेतना की छवि उभरती है -'मुन्नी ने तड़प कर कहा - गाली क्यों देगा, क्या उसका राज है !'

हल्कू किसान से मज़दूर बनने के लिए बाध्य है, परन्तु तब भी वह प्रसन्न है क्योंकि खेती नष्ट हो जाने की वज़ह से उसे 'रात को ठण्ड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा ।' कितनी मजबूरी और व्यंग्य की हंसी है ।

प्रेमचंद ने इस कहानी में यह दिखाने का प्रयास किया है कि हमारे जीवन की सारी समस्याओं की जड़ आर्थिक समस्या है । विषमतामूलक आर्थिक-

व्यवस्था का ही परिणाम है कि हल्कू जैसे लोगों को पूस की ठण्डी रातों में शरीर ढकने के लिए कम्बल भी मुयस्सर नहीं ।

'पूस की रात' और 'कफ़न' प्रेमचंद की महत्वपूर्ण और विवादास्पद कहानियां मानी जाती हैं । राजेन्द्र यादव कहते हैं -' 'कफ़न' और पूस की रात' की तारीफ़ करते समय क्या हमने यह भी सोचने की ज़रूरत महसूस की कि हृदय-परिवर्तन का आदर्श छोड़ कर प्रेमचंद, हृदय-स्तब्धता या विजड़ित संवेदना के बिन्दु पर सांस तोड़ते हैं ? इसे मैंने कभी डि-क्लासिफिकेशन (अ-वर्गीकरण) की प्रक्रिया में डि-ह्यूमेनाइज (अ-मानवीयकरण) होना कहा था । आज लगता है कि यह स्तब्ध-संवेदना की वैसी ही स्थिति है। जैसे फिल्म में फ्रीज़-दृश्य, यानी बात चाहे 'नमक के दारोगा' ... के हृदय परिवर्तन की बात हो या 'कफ़न' और 'पूस की रात' की स्तब्ध-संवेदना (स्टूपिफिकेशन) की - प्रेमचंद एक बिन्दु के बाद अपने को विचित्र गली में पाते हैं ।'[41]

मुझे भी ऐसा लगता है कि प्रेमचंद अपनी अंतिम कहानी में कहीं कुछ चूकते हैं । समस्या का समाधान स्पष्ट नहीं होता - एक अंतर्विरोध है इस कहानी में । 'चमार का कुनबा' से स्पष्ट तो होता है कि धीसू-माधव अस्पृश्य हैं, लेकिन कहानी समस्या के सिर्फ आर्थिक पहलू को उघाड़ पाती है । प्रेमचंद धीसू-माधव के निठल्लेपन, बेहयाई,अकर्मण्यता पर बहुत कुछ लिखते हैं । सारे गांव में इन पर कोई विश्वास नहीं करता, पर एक जगह पर आकर वह कहते हैं कि इनमें काम करने की इच्छा मर गई है, क्योंकि इन्होंने देख लिया है कि काम करने वाले भी इन्हीं की तरह खाली पेट ही जी रहे हैं ।

प्रेमचंद धीसू-माधव की मनोवृत्ति पर लिखते हैं -'एक ऐसे समाज में जहां दिन-रात पसीना बहाने वालों की स्थिति इन से बेहतर नहीं, और किसानों के मुकाबले में वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं

ज़्यादा सम्पन्न थे वहां इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी ।'[42]

एक ऐसे समाज में जहां मेहनत करो तो भी भूखों मरो, और न मेहनत करो तो भी भूखों मरो, वहां मेहनत न करना, लंबे पड़े रहना एक तरह की गहरी सूझ का ही परिचायक है । प्रेमचंद तो कहते भी हैं कि घीसू तो किसानों की तुलना में ज्यादा चुस्त था, विचारवान था, क्योंकि वह खाली हाथ रहने वाले मेहनतकशों की पांत में शामिल होने की बजाय 'बैठकबाजों की कुत्सित मंडली में जा मिला था ।' और ये बैठकबाज गांव के धनी लोग थे ।

एक निर्धन चमार का बैठकबाज़ों में शामिल होना वह भी धनी लोगों में - दिखाता है कि घीसू-माधव किसी से डरते नहीं हैं । क्योंकि वे बेगार करना नहीं चाहते । 'कोई कार्य करने को बुलाता, तो निर्ब्याज दूनी मज़दूरी मांगते ।' ऐसा भी तो हो सकता है कि वे बेगारी के खिलाफ़ खड़े हों और उन्हें कोई काम न देता हो । एक और बात यह कि इतने ग़रीब और जर्जर हालत होने के बावजूद घीसू-माधव को अस्पृश्यता का दंश नहीं झेलना पड़ता है - वे बड़ों के साथ उठते-बैठते हैं - अर्द्ध सत्य-सा लगता है ।

प्रेमचंद घीसू और माधव की मन:स्थितियों को स्पष्ट करते हैं -'अगर वह फटेहाल हैं तो कम-से-कम उसे किसानों की-सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती । और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फ़ायदा तो नहीं उठाते ।'[43] बल्कि उल्टे वे सभी का शोषण करते हैं, जैसे-तैसे उनसे पैसे ऐंठ लेते हैं । इस प्रकार प्रेमचंद के इन पात्रों में एक तरह का अन्तर्विरोध है ।

घीसू-माधव की 'विजड़ित संवेदना' बहुत सारी परतों को खोलती है -'वह न बैकुंठ जाएगी तो क्या मोटे-मोटे लोग जाएंगे, जो ग़रीबों को

दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं।'[44]

घीसू अपने बेटे माधव को समझाता है -'क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि बहू मायाजाल से मुक्त हो गई। बड़ी भाग्यवान थी, जो इतनी जल्द माया-मोह के बंधन तोड़ दिए।'

घीसू ठीक ही कहता है। बुधिया जिंदा रहती तो सारा जीवन तिल-तिल कर ही बिताती। जल्दी ही इस यातनापूर्ण जीवन से मुक्ति पा गयी। बुधिया से जुड़ा हुआ यह प्रसंग कहानी में गहरी मानवीयता और सद्भावना भर देता है।

'ठाकुर का कुआं', 'सद्गति', 'सवा सेर गेहूं', आदि कहानियों में जो मुख्य समस्याएं एवं सवाल उभर कर आते हैं, वे 'कफ़न' तक आते-आते क्यों सिर्फ़ आर्थिक मसले के एकांगी रूप को ग्रहण करते हैं? यह सवाल दलित संवेदना से जुड़ा हुआ है। इस पर गम्भीर बहस होनी चाहिए।

0

संदर्भ सूची

1. डा० शिवकुमार मिश्र - 'साहित्य और सामाजिक संदर्भ' कला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1977, पृ० 185-186
2. हंस। अक्तू० 1992। पृ० 71
3. प्रेमचंद : 'मानसरोवर', भाग 1, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 1991, पृ० 176
4. वही, पृ० 117

5. प्रेमचंद `मानसरोवर`, भाग 1, पृ0 118
6. नीलकांत - `ठाकुर का कुआं`, सामाजिक न्याय की मांग उद्धृत - डा0 राजेन्द्र कुमार (सं0) - प्रेमचंद की कहानियां : परिदृश्य और परिप्रेक्ष्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद 1993, पृ0 72
7. `प्रेमचंद `मानसरोवर`, भाग 1, पृ0 118
8. वही, पृ0 145
9. वही, पृ0 145
10. वही, पृ0 149
11. वही, पृ0 257
12. वही, पृ0 262
13. वही, पृ0 262
14. वही, पृ0 262
15. वही, पृ0 262
16. वही, पृ0 260
17. वही, भाग 2, पृ0 175
18. वही, पृ0 177
19. वही, पृ0 178-179
20. वही, पृ0 283
21. वही, भाग 3, पृ0 188
22. वही, पृ0 189
23. वही, पृ0 213
24. वही, भाग 4, पृ0 164
25. वही, पृ0 18
26. वही, पृ0 18
27. वही, पृ0 18
28. वही, पृ0 23

29. प्रेमचंद, `मानसरोवर`, भाग 4, पृ0 20
30. प्रेमचंद की विचार-यात्रा - क़मर रईस, अनु0 - जानकीप्रसाद शर्मा, प्रकाशन विभाग, 1995, पृ0 27
31. प्रेमचंद, `मानसरोवर`, भाग 4, पृ0 101
32. वही, पृ0 110
33. वही, भाग 5, पृ0 5
34. वही, पृ0 8
35. वही, पृ0 11
36. वही, पृ0 45
37. वही, पृ0 42
38. वही, भाग 4, पृ0 131
39. वही, पृ0 131
40. वही, पृ0 132
41. राजेन्द्र यादव - प्रेमचंद की विरासत : विषय या दृष्टि ? उद्धृत - प्रेमचंद परिचर्चा - सं0 कल्याणमल लोढ़ा/रामनाथ तिवारी लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979, पृ0 25
42. `प्रेमचंद की प्रतिनिधि कहानियां`, संकलन संपादन - भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन, 1995, पृ0 133
43. वही, पृ0 133
44. वही, पृ0 139
45. वही, पृ0 139

अन्ततः

रचनाकार और दार्शनिक में फर्क होता है । दार्शनिक के पास सिद्धान्त होता है और इस सिद्धान्त का सुस्पष्टता के साथ भाष्य प्रस्तुत करना उसका स्वीकृत दायित्व । दर्शन और उसके प्रस्थान-बिन्दु दार्शनिक के लिए लगभग अपरिवर्तनशील होते हैं । स्थिरता और स्पष्टता इन दो बिन्दुओं के लिए प्रतिबद्ध दार्शनिक से इसी धरातल पर रचनाकार अलग हो जाता है । सर्जक व्यक्तित्व के पास न कोई बना बनाया सुस्पष्ट दर्शन होता है और न प्रदत्त विचारधारा से जुड़े रहने की मजबूरी । कठिनाई तब पैदा होती है जब हम रचनाकार पर दर्शनशास्त्र की मान्यताएं लागू करते हैं । प्रेमचंद के साथ ऐसा बहुत बार हुआ है । प्रेमचंद अपने रचना-विधान और विचार-जगत में जड़ीभूत कभी नहीं हुए । हाँ । उनकी प्रतिबद्धता सदैव एक सी रही । वे उस तबके के पक्ष में साहित्य रचते हैं जो सदियों से समाज के हाशिये पर फेंक दिया गया है, जिसका शोषण और दमन लगातार होता रहा है । प्रेमचंद का साहित्य इस बात का साक्षी है कि इस समाज व्यवस्था में शोषण के कई "लेयर्स" हैं, कई प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शक्तियां रही हैं उत्पीड़न की ।

प्रेमचंद के कथा-संसार पर तो आलोचकों ने विचार करते हुए माना है कि अपने शुरुआती रचनाकर्म में प्रेमचंद समस्या के साथ समाधान भी देते हैं । प्रेमचंद का यह आदर्शवाद बाद में आदर्शात्मक यथार्थवाद - यथार्थपरक आदर्शवाद और अन्ततः एक स्थिति वह भी आती है जब प्रेमचंद कोई समाधान नहीं प्रस्तुत करते । यथार्थ बिना किसी लाग-लपेट के उपस्थित

होता है लेकिन इस यथार्थ के पीछे एक दृष्टि होती है । दृष्टिहीन यथार्थ दिशा नहीं दे सकता था । प्रेमचंद की विचारधारा-विवेचन में एक चीज़ की नोटिस नहीं ली जाती - प्रेमचंद शुरू से ही वर्णाश्रम से जुड़े दमन और शोषण प्रसंगों का कोई समाधान नहीं देते, देने का प्रयास नहीं करते ··· वे इस सचाई से भलीभाँति अवगत हैं कि वर्ण व्यवस्था वाले सामाजिक ढाँचे में रहते हुए किसी मानवीय समाधान की आशा करना व्यर्थ है ।

प्रेमचंद का रचना-संसार इतिहास के उस दौर में सृजित हुआ जब उसके सामने और भी विकल्प मौजूद थे । दूसरे मोर्चे भी सुलभ थे । देशभक्ति-परक रचनाएँ हो सकती थीं, राजनीतिक घटनाओं को कहानियों में उतारा जा सकता था लेकिन प्रेमचंद ने जो मोर्चा चुना वह सीधे-सीधे हमारी सामाजिक विडम्बनाओं से टकराता था, क्रूरताओं का पर्दाफ़ाश करता था । यह साहित्य इसीलिए प्रासंगिक रहेगा और मुक्ति का भी विमर्श के लिए स्पृहणीय भी । "सद्गति", "ठाकुर का कुआँ" आदि कहानियों के दलित पात्र एक तरफ व्यवस्था के कर्णधारों की मनुष्यता पर सवालिया निशान खड़ा करते हैं दूसरे, बदलाव के लिए पूर्ण परिवर्तन के लिए झकझोरते हैं ।

किसी भी व्यक्तित्व का सपाट महिमामंडन न समाज के लिए उपयोगी होता है न खुद उस व्यक्तित्व के लिए । हमारे यहाँ ऐसे ग़ैर-आलोचनात्मक महिमा-मंडन खूब हुए हैं । ऐसे व्यक्तित्वों को लगभग पूर्ण और प्रश्नों से ऊपर मानलिया गया है । इस व्यक्तित्व-पूजा के शिकार बहुत से मूर्धन्य आलोचकों के लिए प्रेमचंद भी रहे हैं ।

प्रेमचंद ऐसे रचनाकार हैं जिनमें कहीं कोई कमी हो ही नहीं सकती । यह स्थिति घातक है । पुनर्विचार और आलोचना की ज़रूरत सबके लिए हमेशा महसूस होनी चाहिए । प्रेमचंद की कुछ कहानियाँ ऐसी हैं

जो कहीं न कहीं हमें पुनर्विचार के लिए प्रेरित करती हैं । सवाल दलित संवेदना का है । कहानी "पूस की रात" हो या बहुचर्चित कहानी "कफ़न" इन कहानियों में शोषण-तन्त्र वर्णव्यवस्था की उपज नहीं दिखता, हालांकि वह ब्राह्मणवादी व्यवस्था के ही कारण हैं । भारतीय समाज में आर्थिक शोषण सिर्फ अमीरी-गरीबी से तय नहीं होता इस तथ्य को प्रेमचंद अच्छी तरह से जानते थे लेकिन वे इन महत्वपूर्ण कहानियों में रेखांकित क्यों नहीं करते ?

साहित्य से कहीं क्रान्ति नहीं हुई है, साहित्य क्रान्ति नहीं करता । उससे इस तरह की अपेक्षा करना ख़ुशफ़हमी है । और, ऐसी ख़ुशफ़हमी ख़ूब पाली गई है (ख़ासकर भारतीय वामपंथी लेखकों द्वारा) । लेकिन यह भी याद रखना आवश्यक है कि साहित्य क्रान्ति की, आमूल परिवर्तन की पृष्ठभूमि, परिवेश तैयार करता है । एक शोषणविहीन मुक्तिकामी समाज की रचना में ऐसे साहित्य की ज़रूरत इसीलिए महसूस होती है । आज जब हिन्दी में दलित साहित्य रचा जा रहा है तो बदले हुए संदर्भों में प्रेमचंद साहित्य पर एक बार फिर से नए उपकरणों और नई दृष्टि के साथ विचार करना आवश्यक हो गया है । यह प्रयास इसी क्रम में है । ऐसी कोशिशें जारी रहेंगी, इसी आशा और उम्मीद के साथ ।

संदर्भ सूची

आधार ग्रंथ

प्रेमचंद - मानसरोवर, भाग 1-8,
साहित्य प्रकाशन, 1991.

भीष्मसाहनी (सं.) - प्रेमचंद की प्रतिनिधि कहानियां,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995.

प्रेमचंद - गोदान,
राजकमल पेपरबैक्स, 1995.

- गबन,
राजकमल पेपरबैक्स, 1995.

- सेवा सदन,
हंस प्रकाशन इलाहाबाद, 1984.

- कर्मभूमि,
हंस प्रकाशन, 1978.

- प्रेमाश्रम,
हंस प्रकाशन इलाहाबाद, 1984.

अन्य ग्रंथ

अम्बेडकर, बी·आर· - सम्पूर्ण वाङ्मय प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, खण्ड-1, 1993; खण्ड-5, 1994; खण्ड 7-9. 1995.

अमृत राय - क़लम का सिपाही : प्रेमचंद
हंस प्रकाशन इलाहाबाद, 1959.

आनंद वास्कर - हिन्दी साहित्य में दलित चेतना,
विद्याविहार, कानपुर, 1986.

आर· श्याम शास्त्री (सं·) - कौटिल्य का अर्थशास्त्र,
मैसूर, 1924.

इन्द्रनाथ मदान - प्रेमचंद : एक विवेचन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1989.

ए·आर· देसाई - भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन इंडिया, हिन्दी अनुवाद - प्रयागदत्त त्रिपाठी, मद्रास, 1991 ई·

एन·डी· काम्बले (अंग्रेजी) - दि डिप्राइव्ड क्लास एंड देयर स्ट्रगल फॉर इक्वालिटी, आशीष पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1982.

एलीनियर ज़ीलियट (अंग्रेजी) - फ्रॉम अनटचेबल टू दलित, मनोहर पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1992 ई·

कांति मोहन - प्रेमचंद और अछूत समस्या,
जनसुलभ साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 1982 ई·

क़मर रईस - प्रेमचंद की विचारयात्रा,
हिन्दी अनुवाद - जानकी प्रसाद शर्मा,
प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, सन् 1995.

कल्याणमल लोढ़ा और रामनाथ तिवारी (सं.) - प्रेमचंद परिचर्चा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979.

गेल ओम्वेट (अंग्रेजी) - दलित विज़न्स, ओरियंट लॉंगमैन, नई दिल्ली, 1995.

जय शंकर मिश्र - प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986.

तुलसीदास - रामचरित मानस, मूल गुटका, गीताप्रेस गोरखपुर, 45वाँ संस्करण, संवत् 2023 वि.

पुरुषोत्तम अग्रवाल - संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995.

- तीसरा रुख, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996.

बारबरा जोशी (अंग्रेजी) - अनटचैबलवायस ऑफ दलित लिबरेशन मूवमेंट, सेलेक्ट सर्विस सिंडीकेट, नई दिल्ली, 1986.

मदनलाल "मधु" - गोर्की और प्रेमचंद, रादुगा प्रकाशन, मास्को, 1987.

राजकिशोर - हरिजन से दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994.

रजनी पामदत्त - आज का भारत
हिन्दी अनुवाद - आनंद स्वरूप शर्मा, 1977.

राजेश्वर गुरू (सं.) - गोदान, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985.

राजेन्द्र कुमार (सं.) - प्रेमचंद की कहानियाँ : परिदृश्य और परिप्रेक्ष्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993 ई.

रामकिशोर शर्मा - प्रेमचंद की कहानियाँ : संवेदना और शिल्प, विद्या प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984.

रामचंद्र वर्मा (सं.) - संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, कोश संस्थान, वाराणसी.

रामदरश मिश्र/ ज्ञानचंद गुप्त (सं.) - कथाकार प्रेमचंद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1982.

रामविलास शर्मा - महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण.

- प्रेमचंद, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994.

- प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पांचवां संस्करण, 1989.

रामशरण शर्मा - शूद्रों का प्राचीन इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992.

रैल्फ फॉक्स - उपन्यास और लोकजीवन, अनु. - नरोत्तम नागर पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1980.

विजयगुप्त (सं.) - प्रेमचंद और प्रगतिशील लेखन, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980.

विपिन चन्द्र - आधुनिक भारत,
एन·सी·ई·आर·टी, नई दिल्ली, 1990.

विमल थोरात - मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना,
हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, संस्करण 1996.

वीरभारत तलवार - किसान, राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचंद,
नार्दर्न बुक सेंटर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1990.

शिवकुमार मिश्र - साहित्य और सामाजिक संदर्भ,
कला प्रकाशन, दिल्ली, 1977.

- प्रेमचंद : विरासत का सवाल,
पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, 1981.

हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992.

हरगोविन्द शास्त्री (टीकाकार) - मनुस्मृति,
चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1965.

पत्र-पत्रिकाएं

1· नवभारत टाइम्स, हिन्दी दैनिक, नई दिल्ली.
2· जनसत्ता, हिन्दी दैनिक, नई दिल्ली.
3· राष्ट्रीय सहारा, हिन्दी दैनिक, नई दिल्ली.
4· हंस, हिन्दी मासिक, संपादक राजेन्द्र यादव, नई दिल्ली.

5. अंगुत्तर : हिन्दी, वार्षिक संपादक - डॉ. विमलकीर्ति/के.सी. मेश्राम.

6. बहुजन संगठक, हिन्दी साप्ताहिक, संपादक कांशीराम, नई दिल्ली.

7. दलित प्रक्रिया, हिन्दी मासिक, कार्यकारी संपादक - डॉ. धर्मराज सिंह बैघेन, नई दिल्ली.

8. समकालीन जनमत, हिन्दी मासिक, संपादक - रामजी राय, नई दिल्ली.

9. समय चेतना, हिंदी मासिक, सं.- मीना तिवारी, दिल्ली.

10. दलित शिक्षया टुडे, हिंदी मासिक, सं. बृजबिहारी, लखनऊ.

11. "हम दलित" हिन्दी मासिक, सं. - प्रेम कपाड़िया, नई दिल्ली.

.....